॥ श्री ॥

विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला-५६

हिन्दी गाथा सप्तशती

सम्पादक एवं अनुवादक

नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

प्रकाशक चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी
मुद्रक विद्याविलास प्रेस वाराणसी
संस्करण प्रथम वि० संवत् २०१७
मूल्य ५-००

The Chowkhamba Vidya Bhawan,
Chowk, Varanasi-1 (INDIA)
1961
Phone 2076

विष्णुप्रिया के वरद पुत्र

तथा

वीणापाणि के श्रद्धालु सेवक

श्री पुरुषोत्तमदास टंडन 'राजामुनुआ'

को

सविनय

विषय-सूची

पृष्ठसंख्या

आभार-प्रदर्शन

'हिन्दी गाथा सप्तशती' का प्रकाशन मेरे लिए एक साहसपूर्ण कार्य है, इसे मैं भलीभांति जानता हूं। परन्तु यदि उद्देश्य महान् है तो साहस से काम लेना ही चाहिए। लक्ष्य-मार्ग की बाधा अथवा कठिनाई को सोच कर कदम न उठा बैठ रहना न तो उपयोगी है, न वाञ्छनीय। इसे इसी प्रेरणा का परिणाम समझना चाहिए। फिर मेरी अकेली शक्ति एव सामर्थ्य की यह देन नही है। पूर्ववर्ती लेखकों की प्राय. समस्त कृतियां ने किसी न किसी रूप मे मुझे यथेष्ट सहायता पहुँचायी है। अतएव मैं उन सभी लेखको अथवा टीकाकारो से उपकृत हूं। पाठाश की पाण्डुलिपि तैयार करने मे चि० विनोद तथा चि० नित्यानन्द तिवारी ने अपना यत्किंचित् सहयोग दिया है जिसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

डॉ० देवीप्रसन्न मैत्र तथा उनके परिवार ने समय-समय पर जिस आत्मीयता के साथ मुझे निरापद स्थान मे काम करने की सुविधा प्रदान की है उसके लिए मैं उनका ऋणी हूं। परन्तु स्नेहमयी 'ज्वालामुखी' का सक्रिय सहयोग यदि न मिला करे तो मेरे सभी ऐसे संकल्प मन के मन मे ही रह जाया करें। अतएव जो सुख-दु.ख का साथी एवं भागीदार है उसे कैसे भुलाया जा सकता है।

अन्त मे मैं चि० मोहनदास एव चि० विट्ठलदास के प्रति अपना आभार मानता हूं जिन्होंने धैर्य तथा उत्साह के साथ इसे प्रकाशित किया है। मुद्रण सम्बंधी भूलो के लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूं।

९८/४ ए पुरुषोत्तमनगर,
इलाहाबाद
१ जनवरी

—नर्मदेश्वर चतुर्वेदी

RESER भूमिका

उपक्रम –

प्राचीन भारतीय वाङ्मय अपने कलेवर में जितना ही विशाल एव विविध है, अतरग दृष्टि से वह उतना ही गहन तथा गभीर है। मत्रद्रष्टा अथवा क्रान्तदर्शी ऋषियों की अनर दृष्टि तथ्य निश्लेषण से अधिक तत्त्व चिन्तन पर ही केन्द्रित रही है। उनके चिन्तन का विषय चारों पुरुषार्थों मे से अधिकतर 'धर्म एव मोक्ष' ही रहा है। यद्यपि लौकिक जीवन का सम्बन्ध-सूत्र प्राय 'अर्थ तथा काम' द्वारा ही सचालित होता है। फिर भी यहाँ पर धार्मिक अथवा आध्यात्मिक स्वर जितना मुखर है, उतना अन्यान्य नहीं। सामाजिक स्तर पर उसका अधिकाश एकागी तथा एकदेशीय है। यदि कहीं पर दृष्टि-प्रसार लक्षित होता भी है तो वह कीर्तिधवल उत्तुग शैल शिखरों पर ही अधिक टिका है, जन सकुल तमसावृत्त उपत्यकाओं मे कम ही रम सका है जिस कारण, उनके आधार पर सम्पूर्ण सामाजिक जीवन का विशद चित्र नहीं उभड पाता है। लौकिक जीवन का स्पष्ट परिचय हमें वहाँ पर नहीं मिल पाता, केवल इतस्तत उसका आभास मात्र मिलता है। उसमें से ऋषि तथा देव वर्ग के अतिरिक्त मनुष्य का जो रूप झलकता है वह अधिकतर व्यक्ति का न होकर विभूति का है जन साधारण से भिन्न 'कुलीन एव सभ्रान्त' वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है। शेष दस्यु, दैत्य तथा म्लेच्छादि कोटि के कहला कर हेय अथवा तिरस्कृत ठहराये जाते हैं। यही नहीं, सभी युगों मे 'दास प्रथा' भी किसी न किसी रूप मे प्रचलित रही है।[1]

ऐसे ग्रथ जो लौकिक जीवन के अधिक निकट हैं बहुत थोड़ी सख्या में सुलभ हैं। उनमे 'गाथा सप्तशती' का स्थान महत्त्वपूर्ण है, जहाँ मूलत लोक जीवन का सहज हास विलास, आह्लाद विषाद तथा

---

1 Dev Raj Chanana Slavery in Ancient India, Peopels Publishing House Private Limited, New Delhi 1960

रीति-नीति एव आचार विचार भी प्रचुर मात्रा मे अभिव्यक्ति पा सका है। इसकी शेष बातें आनुषगिक मात्र हैं जिनका पृथक् महत्त्व है।

ग्रंथपरिचय

'गाथा सप्तशती' एक सग्रह ग्रथ है, यह उसके प्रथम शतक की तृतीय गाथा[1] से स्पष्ट होते देर नहीं लगती। इसे कविवत्सल हाल ने कोटि गाथाओं से चयन करके प्रस्तुत किया था।[2] उक्त तृतीय गाथा में प्रयुक्त 'हालेण' शब्द का प्रयोग कतिपय टीकाकारों ने 'शालेण', 'शालवाहनेन' अथवा 'शालिवाहनेन' के रूप में किया है। 'हाल' के रूप मे 'शालवाहनेन' अथवा 'शालवाहन' शब्द के प्रयोग सभवत प्राकृत रूपान्तर के कारण हैं। यह भी सभव है 'शालवाहन' शब्द 'सालाहण' अथवा 'हालाहण' से 'हाल' मे परिवर्तित हो गया हो।[3] यद्यपि स्वर्गीय नाथूराम प्रेमी सदर्भगत 'सलाहणिज्जे' का अर्थ 'शालवाहन' न करके 'श्लाघनीय' करते हैं। ऐसा लगता है कि कतिपय टीकाकार इन तीनों ही नामों से परिचित रहे हैं, क्योंकि सन् १८७३ ईसवी मे रावसाहब विश्वनाथ मण्डलीक द्वारा 'गाथासप्तशती' की जो प्रति सुलभ हुई उसका नाम 'शालिवाहन सप्तशती' ही पाया गया[4] जिसका समर्थन कतिपय अन्य उपलब्ध प्रतियों की अन्तिम गाथा से भी हुआ और जिसमें किसी 'कोश' का उल्लेख पाया जाता है।[5]

---

१ सत्त सताइ कइवच्छलेण कोडीअ मज्झआरम्भि।
हालेण विरइआइ सालङ्काराणँ गाहाण॥ ११३॥

२ हारोवंणीदण्डो खट्टुगालियाइ तहय तालुत्ति।
सालाहणेण गहिया दहकोडीहि च चउगाहा॥ (प्रवन्धचिन्तामणि)

३ केशव स्मृति अक, नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५६ अक ३-४ सवत् २००८, पृ० २५३।

४ जर्नल ऑव् रायल एशियाटिक सोसायटी, बम्बई शाखा, खण्ड १०, सख्या २९, पृ० १२७-१३८।

५ ऐसो कइणामकिय गाहा पडिवद्ध वड्डिआ सोओ।
सत्त सआओ समत्तो सालाहण विरइओ कोसो॥ तथा—
वेबर Das Saptacatakam, Verse 409

गाथा कोश

दण्डी ने सर्गबद्ध अपूर्ण महाकाव्य के अंगीभूत जिन पद्य ग्रंथों का उल्लेख किया है उनमें कोश-ग्रंथ अद्वितीय है। उनके परवर्ती विश्वनाथ ने 'साहित्यदर्पण' के छठें अध्याय में कोशग्रंथ का लक्षण इस प्रकार दिया है "कोशः श्लोक समूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः" अर्थात् कोश-काव्य के श्लोक परस्पर निरपेक्ष होते हैं।

उपर्युक्त 'कोश' के सन्दर्भ में हमारा ध्यान सर्वप्रथम कोटि गाथाओं वाले 'गाथाकोश' की ओर आकर्षित हो जाता है जिसका उल्लेख संस्कृत साहित्य तथा प्राकृत सुभाषितों में यत्र-तत्र पाया जाता है। वहाँ पर कवि एवं कोशकार के रूप में 'हाल' की स्पष्ट चर्चा है। बाणभट्ट[1], उद्योतन सूरि[2], अभिनन्द[3], राजशेखर[4], हेमचन्द्र[5], जिनप्रभ सूरि[6], मेरुतुंग[7] सोड्ढल[8] और राजशेखर सूरि[9] ने अपनी-अपनी रचनाओं में विशालकाय ग्रंथ 'गाथाकोश' की ओर इंगित किया है। इनकी रचनाएँ ईसा की सातवीं शताब्दी से लेकर चौदहवीं शताब्दी के बीच की हैं। इस प्रसंग में यह सोचने का अवसर मिल जाता है कि 'गाथाकोश' अथवा 'गाथा सप्तशती' एक की न होकर दो विभिन्न रचनाओं की संज्ञाएँ हैं। कारण, 'गाथा सप्तशती' की गाथाओं की संख्या सात सौ निर्धारित है, जबकि विशालकाय 'गाथाकोश' की गाथाएँ करोड़ की संख्या में हैं। उद्योतन सूरि द्वारा उल्लिखित 'गाथा कोश' और राजशेखर द्वारा वर्णित 'गाथा संग्रह' अभिन्न प्रतीत होते हैं। मेरुतुंग ने 'प्रबन्ध चिन्तामणि' में जिस 'गाथा कोश' की चर्चा की है वह विचारणीय

१. अविनाशिनमग्राम्यमकरोत् सातवाहनः ।
   विशुद्धजातिभिः कोषरत्नैरिव सुभाषितैः ॥ (हर्षचरित)

२. दलाल. काव्य मीमांसा, सम्पादकीय टिप्पणी, पृ० १२ ।

३. वही ।

४. रामचरित ६।९३ एवं २२।१०० ।

५. कर्पूर मंजरी एवं सूक्ति मुक्तावली ।

६. अभिधान रत्नमाला; देसीनाम माला, वर्ग ८, गाथा ६१ ।

७. कल्प प्रदीप ।

८. उदय सुन्दरी ।

९. प्रबन्ध चिन्तामणि, अथ सातवाहन प्रबन्ध, पृ० १०–११ ।

है।[1] सातवाहन ने चार लाख स्वर्ण मुद्राओं द्वारा 'गाथा चतुष्टय' को लेकर जिस 'सप्तशती गाथा प्रमाण' का 'सप्त गाथा कोश' का शास्त्र तैयार कराया वह निश्चित रूप से 'चार गाथाओं' का संग्रह मात्र न होकर चार भागों वाला 'गाथा कोश' हो सकता है जिसका समर्थन जिन्प्रभ सूरि की इस उक्ति द्वारा हो जाता है कि 'गाथा कोश' चार भागों में बँटा था। परन्तु अभी तक किसी ऐसे संग्रह की प्राप्ति नहीं हो सकी है जिसके अभाव में भ्रमवश 'गाथा सप्तशती' को ही 'गाथा कोश' मान लेने की परम्परा चल पड़ी है। कृति एवं कृतिकार में नामसाम्य होने के कारण यह भ्रान्त धारणा तथ्य रूप में स्वीकार कर ली गई है जिसकी चपेट में बड़े-बड़े टीकाकार तथा इतिहासज्ञ तक आ गए हैं और इसी को परवर्ती लेखकों तक ने दुहरा दिया है।

उलझन

फलस्वरूप 'गाथा सप्तशती' सातवाहन (प्रथम शताब्दी) की रचना मान ली गई है और उसके संदर्भगत उल्लेखों को तत्कालीन बतलाया जाने लगा है। कतिपय विद्वानों ने अन्तर्साक्ष्य के आधार पर शंका प्रकट करते हुए काल-निर्धारण सम्बंधी भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किया है। कीथ[2] ने यदि उसे दूसरी से पाँचवीं शताब्दी के बीच का बतलाया है तो वेबर[3] ने तीसरी तथा सातवीं शताब्दी के मध्य का। इसी प्रकार भाण्डारकर[4] ने यदि उसे छठी शताब्दी का पाया है तो मिराशी[5] ने पहली से आठवीं शताब्दी तक का होने का अनुमान किया है और नीलकण्ठ शास्त्री[6] ने दूसरी-तीसरी शताब्दी के पक्ष में अपना

---

१. चतुर्विंशति प्रबन्ध, अ० रा० पु० सो० बम्बई शाखा, खंड १०, पृ० १२५।

२. कीथ : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २२४।

३. वेबर : Das Saptacatakam Des Hala (1881) Introduction, p xxii

४. भाण्डारकर डी० आर० : विक्रम संवत्, भाण्डारकर स्मारक ग्रंथ, पृ० १८९।

५. इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, दिसंबर १९४७, खंड २३, पृ० ३००-१०

६. नीलकण्ठशास्त्री के० ए० : ए हिस्ट्री ऑव् साउथ इण्डिया, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, पृ० ९० एवं ३३०।

मत व्यक्त किया है। परन्तु किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचने के पूर्व और अधिक ऊहापोह कर लेना अभीष्ट है।

रचयिता

'गाथा सप्तशती' के रचयिता पर विचार करते समय जब हम कोशकार सातवाहन की विशेषताओं पर ध्यान देते हैं तो कुछ स्पष्ट भेद लक्षित होने लगते हैं। कोशकार हाल का जैनमतावलम्बी होना प्रसिद्ध है, यद्यपि इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है, केवल जैन ग्रंथों में उनका उल्लेख मात्र है, जबकि 'गाथा सप्तशती' का रचयिता शैव है और यह बात मंगलाचरण वाली गाथा से ही स्पष्ट होते देर नहीं लगती।[1] कोशकार हाल का उल्लेख जैन प्रबन्धों में तो पाया ही जाता है इसके अतिरिक्त यह कई जैन तीर्थों का उद्धारक तथा प्रतिपालक कहा गया है। संस्कृत एवं प्राकृत साहित्य में ऐसे सन्दर्भ आते हैं जिनसे कोशकार सातवाहन दानी, धर्मात्मा, पराक्रमी, लोकहितैषी एवं विद्यानुरागी जान पड़ता है। उसकी तुलना भोज और मुंज आदि से की गई है। बाणभट्ट ने तो उसे 'त्रिसमुद्राधिपति' की संज्ञा से विभूषित किया है। हेमचन्द्र और मेरुतुंग ने उसे नागार्जुन का शिष्य बतलाया है जो उसका समकालीन था। इसके विपरीत 'गाथा सप्तशती' का रचयिता हाल विलासी रसिया और प्राकृत प्रेमी शृंगारी कवियों का आश्रयदाता है। इसके अतिरिक्त 'गाथा सप्तशती' में जो रचनाएँ संकलित हैं उनका रचना-काल भी विचारणीय है।

रचना-काल

ग्रंथ-रचना-काल निर्धारित करते समय जब हमारा ध्यान तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति की ओर जाता है तो हमें यह देख कर आश्चर्य होता है कि ग्रंथ में बौद्धधर्म को यथेष्ट महत्त्व नहीं दिया गया है। इसके विपरीत यदि उसका कहीं उल्लेख हुआ भी है तो

---

[1] पसुवइणो रोसारुणपडिमासंकंत गोरिमुहअन्द ।,
गहिअग्घ पङ्कअ विअ सझासलिलंजलिं णमह ॥ १।१ ॥

यह सम्मान सूचक कदापि नहीं है,[1] जबकि बौद्धधर्म के लिए प्रथम शताब्दी उत्कर्ष-काल ठहराया जा सकता है। अशोक का शासन काल बौद्धधर्म के प्रचार एवं प्रसार का युग रहा है ऐसे समय की रचना में उक्त धर्म का इस प्रकार का उल्लेख होना स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता है। इसके विपरीत वहाँ पर राधा, कृष्ण, हर, गौरी, गणेश, वामन, कालिका, सरस्वती और लक्ष्मीनारायण आदि की अधिक चर्चा है। वहाँ पर पौराणिक देवी-देवताओं का ही प्राधान्य है जो उस युग की प्रवृत्ति के अनुरूप नहीं है। ऐसी दशा में यह अनुमान करने का आधार मिल जाता है कि 'गाथा सप्तशती' गुप्तकाल अथवा उसके बाद का संग्रह है जैसा कि श्री मथुरानाथ शास्त्री ने भी अपनी भूमिका में संकेत किया है।

बहिर्साक्ष्य के आधार पर यह विचारणीय है कि प्राचीन लेखकों द्वारा जहाँ-कहीं 'गाथाकोश' का उल्लेख हुआ है, वहाँ पर 'गाथा-सप्तशती' का नाम नहीं आया है। इसी प्रकार संकलित गाथाओं की सात सौ संख्या का उनमें कहीं उल्लेख नहीं मिलता है। दसवीं शताब्दी के प्रारंभ तक यही स्थिति है। हेमचन्द्र, जिनप्रभ सूरि और राजशेखर सूरि आदि ने भी 'गाथाकोश' का ही नाम लिया है। चौदहवीं शताब्दी के मेरुतुंग ही सर्वप्रथम लेखक हैं जिन्होंने 'गाथा सप्तशती' का नामोल्लेख किया है। ऐसा लगता है कि 'गाथा सप्तशती' को यहीं से सातवाहन संकलित 'गाथाकोश' बतलाने की भूल आरंभ हुई है। मेरुतुंग ने जिस 'गाथा चतुष्टय' का उल्लेख किया है उससे 'गाथा सप्तशती' की संगति नहीं बैठती है। 'गाथा सप्तशती' को प्रथम शताब्दी का संग्रह मानने में एक अन्य बाधा भी है वह यह कि उसके बाद गोवर्धन की 'आर्या सप्तशती' के रचना-काल बारहवीं शताब्दी तक किसी अन्य सप्तशती का पता नहीं चलता है। श्री मथुरानाथ शास्त्री ने अपनी भूमिका में यह दिखलाने का यत्न किया है कि 'आर्या सप्तशती' की कई गाथाओं पर 'गाथा सप्तशती' का स्पष्ट प्रभाव है। इससे यह अनुमान करने का और अधिक अवसर मिल जाता है कि 'गाथासप्तशती' दसवीं बारहवीं शताब्दी के बीच का संकलन है।

---

१ कीरमुहसच्छहेहिं रेहइ वसुहा पलासकुसुमेहिं।
बुद्धस्स चलणवन्दण पडिएहिं व भिक्खुसंघेहिं ॥ ४१८ ॥

पाठभेद

उत्तर तथा दक्षिण भारत में 'गाथा सप्तशती' की कई प्रतियाँ उपलब्ध बतलायी जाती हैं। वेबर ने प्राप्त हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर पाठों को शोधने के लिए नियम (Vorwort, p. XXVII) बनाया जिसके अनुसार चार सौ तीस गाथाओं के पाठ परस्पर मिलान के बाद निर्धारित हुए, किन्तु मूल 'गाथा सप्तशती' की संख्या इससे कहीं अधिक है। कविवत्सल हाल ने कोटि गाथाओं में से सात सौ गाथाओं को चुन कर संकलित किया अथवा करवाया था। अतएव मूलतः सात सौ से कम गाथाएँ नहीं होनी चाहिए।

क्रमभेद

'गाथा सप्तशती' की उपलब्ध प्रतियों की गाथाओं के क्रम में एकरूपता नहीं है। प्रतिलिपि करने अथवा कराने वालों ने मनमानी रीति से उन्हें क्रमबद्ध कर दिया है। कहीं-कहीं अन्यान्य प्रचलित गाथाओं तक का उनमें समावेश किया गया मिलता है। वेबर वाले संस्करण की उत्तरार्द्ध वाली गाथाओं में से कई परवर्तीकालीन हैं। लोकप्रिय गाथाओं के मूल रूप में हस्तलिखित न होने के कारण पाठभेद के साथ-साथ क्रमभेद के भी अधिक अवसर उपस्थित हुए हैं।

टीकाएँ

आफ्रेक्ट के अनुसार 'गाथा सप्तशती' की लोकप्रियता का पता उसकी टीकाओं की संख्या से चल जाता है। कुलनाथ, गंगाधर, पीतांबर, प्रेमराज, भुवनपालन और साधारण देव ऐसे ही टीकाकार हैं। इनके अतिरिक्त पीतांबर की टीका में भट्ट, चैतन्य, कुलपति, भट्टराघव और भोजराज के नामोल्लेख हैं। डॉ० भाण्डारकार ने किसी आजड़ का टीकाकार रूप में नाम गिनाया है।[1] पंजाब विश्वविद्यालय

---

1. Report on the Search for Sanskrit Manuscripts during the Years 1887-91, p. 26.

के पुस्तकालय मे माधवराव मिश्र लिखित 'तात्पर्य दीपिका' नामक हस्तलिखित टीका सगृहीत है।[1] पंडित मथुरानाथ शास्त्री की टीका आधुनिक है। गंगाधर तथा पीताम्बर की टीकाएँ पूर्ववर्ती हैं जिनका उल्लेख शास्त्री जी ने किया है। इनमें से भुवनपाल जैन और प्रेमराज सहगल (सहगिल) खत्री हैं, क्षत्रिय नहीं जैसा कि अन्यत्र कहा गया है। वेबर के अनुसार 'गाथा सप्तशती' की सात प्रतियाँ और तेरह टीकाएँ उपलब्ध हैं।[2] 'व्यङ्ग्य सर्वंकषा' एक भिन्न टीका है।

गाथा सप्तशती के कवि

'गाथा सप्तशती' की सभी प्रतियों में संकलित गाथाओं में एक रूपता नहीं है। चार सौ तीस गाथाओं में ही समानता है, शेष में विभिन्नता है।[3] इनके रचयिताओं के भी उल्लेख प्राय मिल जाते हैं। फिर भी कई प्रतियों मे कवियों के नाम परस्पर नहीं मिलते। भुवनपाल की टीका में इन रचयिताओं की संख्या ३८४ तक पहुँच जाती है। बंगाल से ताडपत्र पर लिखित एक खण्डित प्रति प्राप्त हुई है जिसमें चार सौ तीस गाथाएँ संकलित हैं और जो सभी उपलब्ध प्रतियों मे एक सी हैं। इस प्रकार लगभग दो सौ सत्तर अथवा इनसे अधिक गाथाओं में ही हेरफेर है।

कवियों की नामावली पर विचार करते समय यह स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि इनमें से अधिकांश का समय प्रथम शताब्दी के बाद का है और यह उन चार सौ तीस मूल गाथाओं के कवियों पर भी लागू होता है। इसलिए यह मानने का सबल कारण है कि मूल में ही इन कवियों की रचनाओं को संकलित कर लिया गया है। इससे काल निर्णय करने में भी सहायता मिलती है। मूल 'गाथा सप्तशती'

---

१ जगदीश लाल Gatha Sapta Sati, Introduction, p 15

२ वेबर Das Saptacatakam Des Hala XXVIII Ind sche Stud en XVI p. 9 1

३ वेबर Das Saptacatakam Des Hala (1881) p. XXVIII, मिराशी The Date of Gatha Saptasati Ind an H storical Quarterly Dec 1947

वे कतिपय रचयिताओं के कालक्रमादि पर यहाँ विचार कर लेना उपयोगी है जो इस प्रकार है—

(१) प्रवरसेन भुवनपाल की टीका में इन्हें प्रवर, प्रवरराज अथवा प्रवरसेन कहा गया है। पीताम्बर की टीका में भी इनका उल्लेख है। यही बात निर्णयसागर प्रेस वाले संस्करण में पायी जाती है। इन्हें प्राकृत काव्य 'सेतुबन्ध' और 'रावण वहो' का रचयिता बतलाया जाता है। बाण, दण्डी तथा आनन्दवर्द्धन के उल्लेखों के आधार पर इनका समय सातवीं शताब्दी से पूर्व होना चाहिए। यदि इन्हें हम वाकाटक वंशीय द्वितीय प्रवरसेन मान लें तो यह समय पाँचवीं शताब्दी का हो सकता है जो कश्मीर नरेश प्रवरसेन का समसामयिक भी कहला सकता है।

(२) सर्वसेन भुवनपाल और पीताम्बर की टीकाओं में इनका नाम मिलता है। दण्डी ने 'अवन्तिसुन्दरी'[१] में प्राकृत काव्य 'हरिविजय' के रचयिता को राजा बतलाया है। यह वाकाटक वंशीय वत्सगुल्म शाखा का संस्थापक हो सकता है जो प्रथम प्रवरसेन के पुत्रों में से एक था। इसका उल्लेख इसके पुत्र द्वितीय विन्ध्यशक्ति के बसीम ताम्रपत्र तथा अजन्ता की १६ संख्यक गुफा में पाया जाता है। सर्वसेन का समय चौथी शताब्दी का द्वितीय चरण है।

(३) मान मिराशी इन्हें राष्ट्रकूट वंश का संस्थापक मानाङ्क मानते हैं जिनका समय चौथी शताब्दी के उत्तरार्द्ध का मध्य है। सतारा जिला का मान अथवा मानपुर इस घराने का मुख्य स्थान है। कर्नल टॉड को मोरी राना मान का एक शिलालेख मानसरोवर झील (चित्तौड़) से भी प्राप्त हुआ था।

(४) देव अथवा देवराज : इसे मिराशी राष्ट्रकूट वंशीय मानाङ्क का पुत्र बतलाते हैं जिसके दरबार में कालिदास को चन्द्रगुप्त द्वितीय ने दौत्य कार्य करने के लिए भेजा था। इस राजा का उल्लेख राष्ट्रकूट वंश की दो ताम्रलिपियों में हुआ है। ये दोनों पिता पुत्र मुक्तक काव्य के रचयिता तथा प्राकृत कविता के प्रेमी थे। 'देसीनाममाला' में देसी नामों के किसी कोश की चर्चा है जो देवराज कृत बतलाया जाता है। नवीं-दसवीं शताब्दी के शिलालेखों में भी इस नाम के अन्यान्य राजाओं के उल्लेख पाये जाते हैं।

[१] गा० मू०

(५) वाक्पतिराज यह महाराष्ट्रीय प्राकृत काव्य 'गउडवहो' तथा 'मधुमथन विजय' का रचयिता समझा जाता है। इसकी चर्चा आनन्दवर्द्धन, अभिनवगुप्त और हेमचन्द्र ने भी की है। कन्नौज के प्रतिहार राजा यशोवर्म्मन का यह राजकवि था और 'वाक्पतिराज' परमार राजा मुञ्ज का एक विरुद भी था। भवभूति का यह समसामयिक है। यह आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध का ठहरता है।

(६) कर्ण अथवा कर्णराज अकोला जिले के तरहला ग्राम से इस नाम के कई सिक्के मिले हैं। मिराशी के अनुसार यह सातवाहन वंशीय एक राजा है जिसका समय तीसरी शताब्दी का द्वितीय चरण है।

(७) अवन्तिवर्म्मन यह नवीं शताब्दी का प्रसिद्ध कश्मीर नरेश है जिसके दरबार में 'ध्वन्यालोक' के प्रणेता आनन्दवर्द्धन रहते थे।

(८) ईशान यह बाणभट्ट का मित्र तथा समसामयिक प्राकृत का प्रसिद्ध कवि था जिसका नामोल्लेख 'कादम्बरी' में पाया जाता है। इसका समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है।

(९) दामोदर यह आठवीं शताब्दी के कश्मीर नरेश जयपीड का प्रधान मंत्री हो सकता है जो 'कुट्टनीमतम्' का रचयिता बतलाया जाता है। उसमें रत्नावली की कथा और एक पद्य पाया जाता है।

(१०) मयूर बाणभट्ट ने इसे प्राकृत भाषा का कवि और अपना श्वसुर बतलाया है। इसलिए इसका समय सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध होना चाहिए।

(११) बप्प स्वामी यह प्रसिद्ध कवि तथा जैन आचार्य समझा जाता है जो प्रतिहार राजा नाग वालोक अथवा द्वितीय नागभट्ट का मित्र एवं समसामयिक था। चन्द्रप्रभ सूरि की रचना बप्पभट्टि चरित' (प्रभावक चरित) में इसका उल्लेख मिलता है। इसका समय नवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध होना चाहिए।

(१२) वल्लभ अथवा भट्ट वल्लभ आनन्दवर्द्धन कृत 'देवीशतक' की टीका में कैय्यट ने अपने को वल्लभदेव का पौत्र कहा है जिसका समय दसवीं शताब्दी का चतुर्थ चरण है। अपनी रचना 'भिक्षाटन' काव्य में कवि ने पूर्ववर्ती कवि कालिदास तथा बाणभट्ट की चर्चा की है। इस प्रकार इसका समय आठवीं-नवीं शताब्दी हो सकता है।

(१३) नरसिंह : शार्ङ्गधर पद्धति एवं 'ध्वन्यालोक' की टीका मे इस कवि के कई श्लोकों का पता चलता है। यह सोलंकी राजा भी हो सकता है जो धारवार जिले का निवासी था। दसवीं शताब्दी के कवि पंप रचित 'विक्रमार्जुन विजय' मे इस वंश के दस राजाओं का उल्लेख मिलता है। इस नामावलि मे नरसिंह नामक दो राजा हैं। कवि पंप द्वितीय नरसिंह का समसामयिक था। कन्नौज नरेश यशोवर्म्मन का उपनाम 'नरसिंह' कहा गया है।

(१४) अरिकेसरी : यह नरसिंह का पुत्र समझा जाता है। द्वितीय अरिकेसरी कवि पंप का समसामयिक है।

(१५) वत्स, वत्सराज अथवा वत्स भट्टी : नवीं शताब्दी में कन्नौज के गुर्जरप्रतिहार वंशीय वत्सराज नामक राजा रहा है। पाँचवीं शताब्दी का 'मदसोर प्रशस्ति' का रचयिता वत्सभट्टी इन गाथाओं का रचयिता हो सकता है। इस अवधि के भीतर इस नाम के कई व्यक्ति अथवा राजा हुए हैं जो हर हालत में परवर्ती कालीन हैं।

(१६) आदि वराह : नवीं शताब्दी की ग्वालियर प्रशस्ति में प्रतिहार राजा भोजदेव का उपनाम 'आदि वराह' दिया गया है। बहुत संभव है कि यही वह कवि है।

(१७) माउरदेव : स्वयंभू प्राकृत साहित्य का प्रख्यात जैन लेखक है जो अपने को भाषा-कवि माउरदेव का पुत्र बतलाता है। 'पउम चरिउ', 'पंचमी चरिउ' तथा 'रिट्ठनेमि चरिउ' इसकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इसके एक व्याकरण की चर्चा मिलती है जो न तो प्रसिद्ध है, न उपलब्ध। प्राकृत भाषा के छंद पर इसकी किसी रचना का पता नहीं चलता है। इसका समय सातवीं-आठवीं शताब्दी संभव जान पड़ता है।

(१८) त्रिअट्ठ (त्रिअट्ठइन्द्र) : स्वयंभू के ग्रंथों मे प्राकृत तथा अपभ्रंश के कवि रूप मे इनका उल्लेख मिलता है। इनका समय छठीं-सातवीं शताब्दी हो सकता है।

(१९) धनञ्जय : इस नाम के दो कवि विख्यात हैं। एक मालवा नरेश मुंज परमार का दरबारी कवि था जो भोज तथा सिन्धुल का समसामयिक था। एक अन्य धनञ्जय नामक लेखक का संस्कृत श्लोक 'धवला' टीका मे उद्धृत है जो धनञ्जय 'नाममाला' का ही है। यह संस्कृत का महाकवि है जिसका 'द्विसंधान' महाकाव्य 'काव्यमाला' मे

प्रकाशित है। 'नाममाला' कोश प्राकृत का नहीं, संस्कृत का कोश है।[1] धवला टीका आठवीं शताब्दी की है। इस प्रकार ये दोनों कवि छठीं से दसवीं शताब्दी के बीच के हैं।

(२०) कविराज कन्नौज के विख्यात कवि राजशेखर का विरुद है।[2] राजशेखर प्राकृत का कवि तथा विद्वान था। 'कर्पूर मञ्जरी', 'काव्य मीमांसा' तथा 'सूक्तिमुक्तावली' आदि इसकी प्रसिद्ध रचनाएँ हैं। इसका समय नवीं-दसवीं शताब्दी है।

(२१) सिंह नवीं शताब्दी के प्रथम चरण में गुहिलोत वंशीय इस नाम का राना था। दसवीं शताब्दी के शक्ति कुमार के आहाड़ से उपलब्ध एक शिलालेख[3] में इसकी प्रथम भर्तृपट्ट के पुत्र रूप में चर्चा है। 'चाटसू प्रशस्ति'[4] में इसे ईशान का अग्रज कहा गया है।

(२२) अमित (गति) अपभ्रंश संस्कृत भाषा का कवि और माथुर संघ का जैन मुनि है।[5] इसके संस्कृत ग्रंथ प्राकृत के संस्कृत रूपान्तर मात्र हैं। मालवा के मुंज परमार के दरबार में इसे सम्मान प्राप्त था। इसका समय दसवीं शताब्दी है।

(२३) माधवसेन यह अमित गति का गुरु है। परन्तु इसका कोई ग्रंथ नहीं मिलता। संभव है स्फुट रचनाएँ करता रहा हो।

(२४) शशि प्रभा परमार राना मुंज तथा उसके उत्तराधिकारियों के दरबारी पद्मगुप्त ने अपनी रचना 'नवसाहसांक चरित' में राना सिन्धुल की रानी शशिप्रभा का उल्लेख किया है। संभव है यही वह कवयित्री हो।

(२५) नरवाहन मेवाड़ के गुहिलोत वंशीय राना सिंह के उत्तराधिकारियों में यह नाम पाया जाता है। इसका दसवीं शताब्दी का एक

१ स्वर्गीय नाथूराम प्रेमी द्वारा डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल को लिखा गया पत्रांश जो नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ५७ अंक २-३, संवत् २००९ में पृ० २७३-७४ छपा है।

२ दृष्टव्य काव्यमीमांसा की भूमिका पृ० ३२।

३ इण्डियन ऐण्टिक्वेरी खण्ड ३९, पृ० १९१।

४ एपिग्राफिया इण्डिका खण्ड १२ पृ० १३-१७।

५ नाथूराम प्रेमी जैन साहित्य और इतिहास पृ० ८३ २५७

शिलालेख उदयपुर के पास एकलिंग स्थान से मिला है।[1] आहाड के शिलालेख में इसे शालिवाहन का पिता सूचित किया गया है।

उपर्युक्त विवरण द्वारा 'गाथा सप्तशती' का रचना काल निर्धारित करने में यथेष्ट सहायता मिलती है और यह स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि वर्तमान रूप में 'गाथा सप्तशती' वस्तुत 'गाथा कोश' से भिन्न कृति है। इस प्रकार इसका परवर्ती कालीन होना भी निश्चित हो जाता है। फिर भी यह जानना शेष रह जाता है कि यह सातवाहन वंशीय कोशकार हाल से भिन्न हाल कौन और कहाँ का है जो शैव राजा भी है।

निष्कर्ष

'गाथा सप्तशती' का संकलनकर्त्ता निश्चय ही कुशल कवि अथवा काव्य मर्मज्ञ रहा होगा। ध्वन्यालोक, लोचन, काव्य प्रकाश तथा सरस्वती कण्ठाभरण आदि ग्रंथों में 'गाथा कोश' की कई गाथाओं को उद्धृत किया गया मिलता है। इससे पता चलता है कि यह काव्य-प्रेमियों के बीच अत्यधिक लोकप्रिय रहा है। ऐसा लगता है कि उसके अधिकतर शृंगारी गाथाओं का चयन करके यह संग्रह ग्रंथ तैयार किया गया है जिसकी पुष्टि तीसरी गाथा द्वारा हो जाती है।[2] परवर्ती टीकाकारों ने गाथा कोशकार 'हाल' (सातवाहन, शालवाहन) और 'गाथा सप्तशती' के संकलनकर्त्ता को अभिन्न मानकर दोनों की ही गाथाओं को हाल नाम से सम्बद्ध कर दिया है। यद्यपि अपवाद स्वरूप 'शाल' अथवा 'शालिवाहन' पाठ भी मिल जाते हैं।

पीतांबर की टीका में कई स्थलों पर हाल के स्थान पर शाल वाहन कर दिया गया है जो गाथाएँ-गाथा कोशकार हाल सातवाहन

---

१ जर्नल रॉयल एशियाटिक सोसायटी, बम्बई शाखा, खंड २२, पृ० १६६–६७।

२ सत्त सताइं कइवच्छलेण कोडीअ मज्झआरम्भि।
हालेण विरइआइं सालङ्काराणँ गाहाण ॥ १।३ ॥
संस्कृत रूपान्तर—
सप्तशतानि कविवत्सलेन कोटेर्मध्ये।
हालेन विरचितानि सालङ्काराणां गाथानाम् ॥

की न होकर 'गाथा सप्तशती' के सकलनकर्त्ता शालिवाहन की हो सकती है। इस टीका मे जिन कई गाथाओं का रचयिता 'शालवाहन' है यह निर्णय सागर प्रेस वाले सस्करण मे 'हाल' द्वारा रचित नही बतलाया गया है।[1] इससे यह अनुमान करने का आधार मिल जाता है कि गाथाओं के रचयिताओ का नाम देने मे टीकाकारो से भूलें हुई हैं। कवियों की नामावली मे भी पाठभेद है और उनकी गाथाओं मे भी क्रमभेद हुआ है तथा कई गाथाओं मे कवियों के नाम तक नहीं हैं। फिर भी 'गाथा कोश' की कई गाथाएँ 'गाथा सप्तशती' मे समाविष्ट हैं। प्रथम शतक की प्रारंभिक तीन गाथाएँ और अन्य शतकों के आदि एव अन्त की अथवा कुछ अन्य गाथाएँ 'गाथा सप्तशती' के 'शालिवाहन' की हैं जिनका 'शालवाहन' पाठान्तर उपलब्ध है। शेष गाथाएँ जो हाल नाम के साथ अकित हैं वे दाक्षिणात्य सातवाहन 'हाल' की रचनाएँ हैं जो 'गाथा कोश' से ले ली गई जान पडती हैं। 'गाथा सप्तशती' में सातवाहन 'हाल' के राजकवि 'पालित' तथा 'गुणाढ्य' की भी कुछ गाथाएँ शामिल हैं। यह उल्लेखनीय है कि 'गाथा सप्तशती' मे कहीं भी 'हाल' का 'सातवाहन' रूप में उल्लेख नहीं मिलता।

गाथाओं मे उल्लिखित विषय एव शब्दादि से उनके रचयिता का दाक्षिणात्य अथवा महाराष्ट्री होने का अनुमान होता है। परन्तु इसके विपरीत अन्य गाथाओं में यमुना तथा मानसरोवर का भी नामोल्लेख हुआ है। यही नहीं अन्य कई ऐसे वर्णन मिलते हैं जिनका उत्तरी भारत की रीति नीति से भी साम्य है। इसलिए यह भी ध्यान देने योग्य है।

परन्तु दसवीं शताब्दी का शैवमतावलम्बी शालिवाहन नामक राजा जिसके सरक्षण में 'गाथा सप्तशती' का सकलन हुआ है वह मेवाड का गुहिलोत वशीय राजा नरवाहन का पुत्र शालिवाहन हो सकता है। उसका शासन काल ९७२-७७ ईसवी के आस पास है जिसका पुत्र एव उत्तराधिकारी शक्तिकुमार था।[2] मेवाड का राजवश

---

१ मिराशी The Date of Gathasaptasti Indian Historical Quarterly, 1947

२. गौरीशकर हीराचन्द ओझा . राजपूताने का इतिहास, खण्ड १, ४३- ७३ ।

परम्परा से ही पाशुपत शैवमत का अनुयायी है। राजा शालिवाहन विलासी प्रकृति का था और उसका अंत भी दुश्चरित्रता के ही कारण हुआ। इस प्रकार राजकुल में इसका स्थान गौण बन गया और उसका उल्लेख केवल ६७७ ईसवी की आहाड़ अथवा ऐतपुर प्रशस्ति में ही हो सका। आबू, चित्तौड़ तथा रणपुर की प्रशस्तियों की वंशावली में उसका नाम तक नहीं मिलता।

गाथा कोशकार सातवाहन हाल के नौ शताब्दियों बाद मेवाड़ नरेश शालिवाहन का ही नाम आता है जिसकी राजधानी आहाड़ अथवा आड़ (प्राकृत में आढ्य) रही है। इसका ध्वंसावशेष अब भी उदयपुर के पास देखा जा सकता है। इसी समय के आस-पास मालवा नरेश परमार राजा मुंज ने आक्रमण द्वारा आहाड़ को ध्वस्त कर चित्तौड़ को हस्तगत कर लिया था।[1] इसी आहाड़ के आधार पर इन नरेशों को आहाड़िया कहने की परम्परा थी। यह स्थान तीर्थ-स्थान भी रहा है। बहुत दिनों तक दोनों शालिवाहन (गुहिल तथा सातवाहन) भ्रमवश एक ही समझे जाते रहे जिसका निराकरण स्वर्गीय ओझा जी ने किया था। इस भ्रान्ति को पुष्ट करने में जिनप्रभ सूरि तथा राजशेखर सूरि ने भी योगदान दिया था। परन्तु जिनप्रभ सूरि यह लिखना भी नहीं भूले कि यदि कहीं कोई असंभाव्य बात आ गई हो तो उसका दायित्व उन पर नहीं, 'पर-समय' पर है क्योंकि जैन कभी असंगत बात नहीं कहते।[2]

फिर भी शंका हो सकती है कि मेवाड़ में प्राकृत भाषा का प्रचलन था भी अथवा नहीं। तथ्य यह है कि गुप्त साम्राज्य के अवसान के बाद सातवीं से दसवीं शताब्दी तक उत्तरी भारत में प्राकृत का प्रचार अपने उत्कर्ष पर था। ग्यारहवीं शताब्दी के राजा भोज ने अपनी रचना 'सरस्वती कण्ठाभरण' में लिखा है कि "आढ्यराज के राज्य

---

१. एपिग्राफिआ इण्डिका, खण्ड १० श्लोक १०, पृ० २०।

२. अत्र च यदसम्भाव्यं तत्र परसमय एव।
   मन्तव्यो हेतुर्यदसङ्गतवाग्जनो जैनः॥

में कौन प्राकृतभाषी तथा साहसाक के समय में कौन संस्कृतभाषी नहीं हुआ ?"[1]

आढ्यराज को लेकर विद्वानों में काफी मतभेद रहा है और बाण का एक श्लोक टीकाकार शकर के कारण विवादास्पद बना रहा। किन्तु डा० हाजरा ने अपने एक लेख द्वारा इसका निराकरण कर दिया।[2] उनके अनुसार बाण ने सम्राट् हर्ष के लिए आढ्यराज का प्रयोग किया है। अतएव प्राकृत प्रेमी आढ्यराज शालिवाहन ही हो सकता है जिसका उल्लेख 'सरस्वती कण्ठाभरण' में हुआ है। इस प्रकार यह आढ्यराज मेवाड नरेश गुहिल शालिवाहन का ही विरुद होना चाहिए। सातवाहन हाल के लिए आढ्यराज कहा गया कहीं नहीं मिलता। भाषा विज्ञान की दृष्टि से प्राकृत एव अपभ्रंश के प्रभाव तथा प्रचलन के कारण 'श' का 'ह' उच्चारण हो जाना सम्भव है। अतएव शाल का हाल हो जाना असभाव्य नहीं है। श्री मिट्ठन लाल माथुर ने अपने एक निबन्ध में इन प्रश्नों पर विस्तार पूर्वक विचार किया है। उनका निष्कर्ष है कि "दसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में किसी प्राकृत प्रेमी शैव राजा ने छह अन्य दरबारी कवियों की सहायता से अपनी शृंगारी मनोवृत्तियों के अनुकूल प्राचीन एव समकालिक प्राकृत कवियों की रचनाओं में से ७०० मुक्तक गाथाएँ चुनकर 'गाथा सप्तशती' या 'शालिवाहन सप्तशती' नाम से पहली बार सगृहीत की।'[3]

प्रथम प्रकाशन

'गाथा सप्तशती' को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय वेबर को है। सन् १८७० इसवी में उन्होंने लिप्जिग से Uber Das Saptaca takam Des Hala नामक ग्रथ प्रकाशित कराया था जिसमे तीन

---

१ केऽभूवन्नाढ्यराजस्य राज्ये प्राकृत भाषिण ।
काले श्री साहसाङ्कस्य के न संस्कृतवादिन ॥

२ डॉ० आर० सी० हाजरा इण्डियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली, जून १९४९ पृ० १२६–२८।

३ नागरी प्रचारिणी पत्रिका वर्ष ५६ अङ्क ३–४ सवत् २००८, पृ० २७१।

सौ सत्तर गाथाएँ संगृहीत थीं। सन् १८७२–७४ ईसवी में और अधिक गाथाएँ उपलब्ध हुईं जिन्हें उन्होंने Zeitschrifter Deutschen Morgen Landischen Gasellschaft (26 pp 735 foll) में प्रकाशित कराया। परन्तु 'गाथा सप्तशती' की सम्पूर्ण प्रति सन् १८८१ ईसवी में लिपजग से ही प्रकाशित हुई जिसका नाम Das Saptacatakam Des Hala था। उन्होंने पुस्तक को शुद्ध बनाने के लिए अनेक हस्तलिखित प्रतियों का उपयोग किया था और साधारणदेव की 'मुक्तावली' नामक टीका की 'व्रज्या पद्धति' से काम लिया था तथा कुलनाथ, गंगाधर एवं पीताम्बर की टीकाओं से भी सहायता ली थी। 'व्रज्या पद्धति' उत्तरकालीन है। 'वज्जालग्ग' में कहा गया है कि—

एक्कत्थे पत्थावे जत्थ पढिज्जन्ति पउर गाहाओ।
तं खलु वज्जालग्गं वज्ज त्ति य पद्धई भणिया॥

'व्रज्या' अर्थात् विषय क्रम से संग्रह करने की पद्धति। डॉ० थामस ने 'कवीन्द्र वचन समुच्चय' की प्रस्तावना में वज्जा, व्रज्या और वर्ग को समानार्थी शब्द माना है।[1]

भारतीय संस्करण

परन्तु भारतवर्ष में 'गाथा सप्तशती' को सर्वप्रथम सन् १८८६ ईसवी में निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित कराने का श्रेय 'काव्यमाला' सम्पादक पण्डित दुर्गा प्रसाद शर्मा तथा पणशीकर शास्त्री को है। यह संस्करण निर्णय सागर प्रेस, बम्बई द्वारा प्रकाशित 'काव्यमाला' (क्रमांक २१) में मुद्रित हुआ था जिसमें गंगाधर भट्ट की 'भावलेश प्रकाशिनी' टीका भी सम्मिलित है। इसे तैयार करने में चार हस्तलिखित प्रतियों की सहायता ली गई थी जिनके आधार पर पाठभेद भी दे दिया गया है। सम्पादक द्वारा संस्कृत प्रस्तावना के अतिरिक्त अकारादि क्रम से गाथाओं की अनुक्रमणिका भी दी गई है। सन् १९११ ईसवी में इसकी द्वितीयावृत्ति हुई थी। पंडित मथुरानाथ शास्त्री ने इसका प्रकाशन संस्कृत छाया, विस्तृत प्रस्तावना तथा टीका सहित निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से कराया था जिसकी तृतीयावृत्ति

---

1 Ed P W Thomas Bibliotheca Indica, No 1309

सन् १९३३ ईसवी में हुई थी। इस संस्करण के बाद पञ्जाब विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में संगृहीत हस्तलिखित प्रति की सहायता लेकर जगदीशलाल जी ने पहले ओरियंटल कालेज मेगजीन में और तदनन्तर सन् १९४२ ईसवी में लाहौर से हारिताम्र पीतांबर की टीका सहित पुस्तक रूप में प्रकाशित कराया था जिसके आरंभ में विवेचनात्मक प्रस्तावना तथा अन्त में अकारादि क्रम से गाथासूची सम्मिलित है।

यह सयोग की बात है कि सन् १९५६ ईसवी में लगभग एक साथ ही कलकत्ता से श्री राधागोविन्द बसाक द्वारा बंगला संस्करण और पुणे से श्री सदाशिव आत्माराम जोगलेकर द्वारा मराठी संस्करण सुसंपादित होकर प्रकाशित हुए हैं। निस्सन्देह आज तक हिन्दी पाठकों के लिए ऐसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का कोई हिन्दी संस्करण सुलभ न होना चिन्त्य रहा है।

भाषा

महाराष्ट्रीय प्राकृत में 'गाथा सप्तशती' की रचना हुई है। प्राकृत भाषा के कई रूप हैं जो देशकालादि के अनुसार परिवर्तित होते रहे हैं। 'काव्यालंकार' के टीकाकार नमि साधु (१०६८ ईसवी) ने "प्रकृतेति। सकलजगज्जन्तूनां व्याकरणादिभिरनाहित संस्कारः सहजो वचन व्यापारः प्रकृतिः। तत्रभवं सैव वा प्राकृतम्।" द्वारा प्राकृत का परिचय दिया है। इस प्रकार प्राकृत संस्कृत के संस्कार से शून्य तथा व्याकरण के नियन्त्रण से मुक्त सामान्य जनता की स्वभाव सिद्ध बोलचाल की भाषा है। परन्तु संस्कृत तथा प्राकृत का परस्पर अप्रभावित रहना स्वाभाविक नहीं है। 'प्राकृत संजीवनी' में कहा गया है कि "प्राकृतस्य तु सर्वमेव संस्कृतं योनिः।" फिर भी डॉ॰ गुणे इससे सहमत नहीं जान पड़ते, वे दोनों को पृथक् पृथक् मानते हैं।[1] वररुचि प्राकृत भाषा का आदि व्याकरणकार है जो पाणिनि का परवर्ती अथवा समसामयिक है।[2] उसने महाराष्ट्री, पैशाची शौरसेनी एवं मागधी इन चार भाषाओं पर विचार किया है। महाराष्ट्री प्राकृत के

---

१. An Introduction to Comparative Philology, p 161

२. डॉ॰ केतकर : प्राचीन महाराष्ट्र, पृ॰ ३१२।

मूल स्थान को लेकर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। दण्डी के अनुसार "महाराष्ट्राश्रया भाषा प्रकृष्ट प्राकृत विदु।" इस दिशा में महत्त्वपूर्ण संकेत है।[1] प्राकृत भाषा में भी तत्सम, तद्भव एवं देशी शब्दों का मिश्रण मिलता है।

प्राकृत भाषा के माधुर्य की बड़ी प्रशंसा की गई मिलती है। 'वज्जालग्ग' में जयवल्लभ ने निम्नलिखित गाथा उद्धृत की है—

देसियसद्दपलोट्टं महुरक्खरछन्दसठिय ललिय।
फुडवियडपायडत्थं पाइअकव्वं पढेयव्वं ॥ २८ ॥[2]

इसी प्रकार राजशेखर ने संस्कृत एवं प्राकृत भाषा की तुलना करते हुए 'कर्पूरमंजरी' (निर्णयसागर प्रेस संस्करण १।८) में लिखा है कि—

परुसा सक्कअबंधा पाउअबंधो वि होइ सउमारो।
पुरिसमहिलाणं जेत्तिअमिहन्तरं तेत्तिअमिमाण ॥[3]

वाक्पति राजा के निम्नलिखित उद्गार भी ध्यान देने योग्य है—

णवमत्थ दसण सनिवेश सिसिराओ बन्ध रिद्धीओ।
अविरलमिणमो आ भुवन बन्धमिह णवर पययम्मी ॥
सयलाओं इम वाया विसन्ति एत्तो य णेन्ति वायाओ।
येन्ति समुद्दंचिय णेन्ति सायराओच्चिय जलाइं ॥
हरिस विसेसो वियसावओ य मउलावओ य अच्छीण।
इह बहि हुत्तो अन्तो मुहो य हियस्स विप्फुरइ ॥

इतने पर भी प्राकृत भाषा की श्रेष्ठता में भला किसे सन्देह हो सकता है ? किसी अज्ञात कवि की उक्ति है कि—

---

१ देखो Maharastri Language and Literature Journal of the University of Bombay Vol IV Part VI p 31

२ संस्कृत रूपान्तर—
देशीशब्दपर्यस्त मधुराक्षरच्छन्द संस्थित ललित।
स्फुटविकटप्रकटार्थं प्राकृतकाव्य पठनीय ॥

३ संस्कृत रूपान्तर—
परुषा संस्कृतगुम्फ प्राकृतगुम्फोऽपि भवति सुकुमार।
पुरुषमहिलानां यावदिहान्तर तेषु तावत् ॥

अमिअं पाउअ कव्वं पढिउं सोउं अ जे ण आणन्ति ।
कामस्स तत्त तन्ति कुणन्ति ते कहँ ण लज्जन्ति ।।

अर्थात् 'जिसने अमृत सदृश प्राकृत काव्य का पठन अथवा श्रवण करना नहीं जाना वह कामशास्त्र की तत्व-चिन्ता मे प्रवृत्त होते लज्जा का अनुभव क्यों नहीं करता ?'

फिर भी यह लक्ष्य करने की बात है कि नानाघाट एवं नासिक के शिलालेखों में व्यवहृत प्राकृत, 'गाथा सप्तशती' के प्राकृत जैसी नहीं है। कदाचित् यह भेद शैलीभेद के कारण है। इसका एक अन्य कारण कालभेद और स्थानभेद भी हो सकता है। सोलहवीं शताब्दी के संत कवि रज्जब जी ने प्राकृत और संस्कृत के विषय में कहा है—

बीज रूप कछु और था, वृक्ष रूप भया और।
त्यों प्राकृतैं संस्कृत, रज्जब समझा व्यौर ।। ७४ ।।[1]

छन्द

'गाथा सप्तशती' का 'गाथा' शब्द छन्द के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यों 'गाथा' शब्द का प्रयोग वैदिक साहित्य से लेकर बौद्धादि साहित्य तक में विभिन्न अर्थों में किया गया मिलता है। पिंगलाचार्य ने 'अत्रानुक्तं गाथा' कहा है। हलायुध "अत्रशास्त्रे नामोद्देशेन यन्नोक्त छन्दः प्रयोगे च दृश्यते, तद्गाथेति मतव्यम्" कहते हैं। रत्नशेखर सूरि ने गाथा का लक्षण इस प्रकार बतलाया है।

सामन्नेणं बारस अट्ठारस बार पनरमत्ताओ।
कमसो पायचउक्के गाहाए हुंति नियमेणं ।।
गाहाइ दले चउचउमत्तसा सत्त; अट्ठोमदुक्लो।
एयं चोय्दले विदु नवरं छट्टोइ एकलो ।।

कोलब्रुक गाथा को प्राकृत में संस्कृत से आया बतलाते हैं।[2] डॉ० गोरे ने 'वज्जालग्ग' की प्रस्तावना के सातवें पृष्ठ पर गाथा का विवरण दिया है। अन्यत्र प्राकृत गाथा का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—

---

१. परशुराम चतुर्वेदी : संतकाव्य, प्रथम संस्करण, किताब महल, इलाहाबाद, पृ० ३८१।

२. Sanskrit and Prakrit Poetry, Asiatic Researches x, p 400.

पठम बारह मत्ता, बीए अट्ठारएहि संजुत्ता।
जह पठम तह तीअ, दह पञ्चविहूसिआ गाहा॥[1]

सस्कृत छन्दशास्त्र में आर्या के लिए जो नियम निर्धारित है वह भी इसी प्रकार का है—

यस्या पादे प्रथमे द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थ के पञ्चदशसार्य्या॥

अर्थात् जिस छन्द का प्रथम चरण बारह मात्रा का (स्वर की लघुता एव गुरुता के परिमाण से) द्वितीय अठारह का, तृतीय बारह और चतुर्थ पन्द्रह का होता है उसका नाम आर्या है। इस प्रकार सस्कृत की आर्या ही प्राकृत का गाथा छन्द है।

'वज्जालग्ग' में जयवल्लभ ने 'गाथा' की सराहना करते हुए कहा है—
अद्धक्खरभणियाण नूण सविलासमुद्धहसियाइ।
अद्धच्छिपेच्छियाइ गाहाहि विणा ण णाज्जति॥ ६॥

यही नहीं, आगे कहा है—
गाथा रुनइ वराई सिक्खिज्जन्ती गवारलोएहिं।
कीरइ लुञ्चपलुञ्चा जह गाई मन्दवोहेहिं॥ १४॥

कवि उमग मे यहाँ तक कह गया है कि—
ललित महुरक्खरए जुवईजणवल्लहे ससिंगारे।
सते पाइअकव्वे को सक्कइ सक्कय पढिऊ॥

अर्थात् ललित एव मधुर, शृगारिक तथा युवती जन प्रिय गाथा सस्कृत काव्य में कहाँ मिलेगा?

उपसंहार

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि 'गाथा सप्तशती' वही रचना नहीं है जिसे 'गाथा कोश' नाम द्वारा अभिहित किया जाता है। 'शालिवाहन

---

1 सस्कृत रूपान्तर—
प्रथम द्वादश मात्रा द्वितीये अष्टादशभि सयुक्ता।
यथा प्रथम तथा तृतीय दशपञ्चविभूषिता गाथा॥

सप्तशती' नामक प्रति से उन छह सहयोगी कवियों के नाम[1] तक का पता चल जाता है जो शालिवाहन के सहायक रहे हैं। अधिकांश प्रतियों की प्रारंभिक सात गाथाएँ इन्हीं द्वारा रचित बतलायी जाती हैं।

आध्रभृत्य अथवा सातवाहन हाल प्रथम शताब्दी का दाक्षिणात्य राजा था जिसने 'गाथा कोश' का सकलन कराया था। यह स्वय प्राकृत का कवि भी था। राजशेखर ने 'कर्पूर मजरी' के विदूषक द्वारा इसकी तुलना कोटीश, हरिचन्द्र और नन्दिचन्द्र आदि प्राकृत कवियो से करायी है। बाणभट्ट ने हर्षचरित' मे सातवाहन राजा द्वारा विशुद्ध जाति के रत्नो के सदृश सुभाषितो से समन्वित अग्राम्य एव अविनाशी कोश बनाये जाने की चर्चा की हैं।[2]

राजशेखर ने 'काव्य मीमासा' मे लिखा है कि चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य के अन्त पुर मे सस्कृत का और कुतल सातवाहन के अन्त पुर मे प्राकृत भाषा का प्रचलन था। कुतल शब्द का इसी अर्थ मे प्रयोग वात्स्यायन ने 'कामसूत्र' मे भी किया है। डॉ० पीटर्सन के अनुसार सातवाहन कुतल जनपद का अधिपति था जिसकी राजधानी पैठण (प्रतिष्ठानपुर) थी। उसका उपनाम 'हाल' अथवा शतकर्ण था। मलयवती उसकी रानी थी और दीपकर्ण उसका पिता था। वह शिववर्मा का मित्र तथा गुणाढ्य का आश्रयदाता था। 'गाथाकोश' नामक एक अभिधान भाण्डारकर इस्टिट्यूट पूना के सग्रह मे क्रमाक (३८६) सन् १८८८-८६ और ३८४ सन् १८८४-६१ ईसवी का सुरक्षित है।

विषय वस्तु की दृष्टि से 'गाथा सप्तशती' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। इस ग्रथ मे कृषिजीवी भारतीय जीवन का चित्र अकित है। इसमे मानवी प्रवृत्तियों एव चरित्रों का निदर्शन है। यह एक प्रकार से तत्कालीन रीति नीति तथा आचार विचार का कोश-ग्रंथ है, जहाँ अधिकतर जन साधारण का ही जीवन मुखर है। पामर पामरी,

---

१ बोदित (बोद्दिस), चुल्लुह, अमरराज, कुमारिल, मकरन्दसेन और श्रीराज।

२ अविनाशिनमग्राम्यमकरोत् सातवाहन ।
विशुद्धजातिभि कोषरत्नैरिव सुभाषितै ॥

हालिक-हालिक पत्नी, नन्दन दुहिता, गृहिणी-गृहपति और प्रेमी प्रेमिका के बीच की ग्रामीण उक्तियाँ चित्ताकर्षक होने के साथ-साथ तत्कालीन समाज की कसौटी भी हैं। इसमें प्राचीन भारतीय ग्रामों उनके निवासियों, उनके पारिवारिक जीवन की विशेषताओं-यथा, सभ्यता एवं संस्कृति का चित्रमय परिचय मिलता है। ऐसा लगता है कि इन्हीं को लक्ष्य कर इन गाथाओं की रचना हुई थी। कदाचित् इसी कारण, इसमें स्वभावोक्ति का स्पष्ट प्रमाण मिलता है जो 'शिष्ट समाज' द्वारा लाञ्छित होकर 'अश्लील उक्ति' तक कहलाकर प्रसिद्ध है। यह ग्रंथ शृंगार-रस प्रधान है। इसमें विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी के अनेक उदाहरण मिल सकते हैं। इसी प्रकार संयोग वियोग के मनोहारी उद्‌गार भी प्रचुर मात्रा में सुलभ हैं। ये ग्रामीण मनोभाव परिमार्जित न होकर अपने प्रकृत रूप में हैं। इनका भीतर-बाहर एक समान है। इसी कारण यह ग्रंथ 'लोक साहित्य' की तालिका में महत्त्वपूर्ण स्थान पाने का अधिकारी है। परवर्ती काल के कई कवि और लेखक इस ग्रंथ के भाव तथा शैली के ऋणी हैं।

'गाथा सप्तशती' के सांस्कृतिक अध्ययन के लिए एक स्वतन्त्र ग्रंथ अपेक्षित है। इस सन्दर्भ में प्रथम शतक की ४८वीं गाथा—

अण्णमहिलापसङ्गं दे देव करेसु अम्ह दइअस्स।
पुरिसा एक्कंतरसा ण हु दोप गुणे विआणन्ति॥

अर्थात् हे देव, हमारे प्रियतम के निमित्त दूसरी महिला की आसक्ति का विधान करो, नहीं तो पुरुष एकरस स्वादी हो जायेंगे एवं किसी के गुण-दोष को विशेष भाव से नहीं समझ पायेंगे।

इसकी सामाजिक व्याख्या करना नृतत्त्व विशारदों अथवा समाज-शास्त्रियों का विषय है। जहाँ तक अपना सम्बन्ध है इस सन्दर्भ में पाठकों का ध्यान मैं राजगृह के बुद्ध भक्त पूर्ण श्रेष्ठि की कन्या उत्तरा-वाली बौद्ध कथा[1] की ओर आकर्षित करना चाहता हूँ जिसका विवाह अबौद्ध परिवार में हुआ था। फलस्वरूप चातुर्मास में वह न तो धर्म श्रवण कर सकती थी और न भिक्षु-भोजन करा पाती थी। एक

[1] धम्मपद, कोधवग्गो-३ तथा अट्ठसालिनी नाम धम्मसंगणिप्पकरणट्ठ कथा-१।१

दिन उसने अपने पिता के निकट अपनी मनोव्यथा व्यक्त की जिसके उत्तर में उसके पिता ने पन्द्रह हज़ार कार्षापण उसे इस हेतु दिया कि वह इसे देकर अपने स्वामी की देखभाल के लिए सिरिमा अथवा श्रीमती गणिका को नियुक्त कर दे।

इस प्रकार उत्तरा ने पन्द्रह दिन के लिए श्रीमती को स्थानापन्न कर दिया। वह राजवैद्य तथा प्रधान अमात्य जीवक कौमारभृत्य की कनिष्ठा भगिनी एवं वैशाली की नगरवधू अम्बपाली की कन्या थी।

यदि उपर्युक्त घटना सच है तो पिता द्वारा अपनी कन्या को उक्त सुझाव देकर उसकी सहायता करना और पत्नी का अपने पति के लिए गणिका नियुक्त करना गाथा को समझने में सहायक हो सकता है। यद्यपि मनोवैज्ञानिक अथवा प्रचलित सामाजिक प्रथा से उक्त आचरण स्त्रियोचित नहीं जान पड़ता, फिर भी यह कथा एक परोक्ष समाधान प्रस्तुत करती है।

हिन्दी-गाथासप्तशती

प्रथम शतक

पसुवइणो रोसारुणपडिमासंकंतगोरिमुहअन्दं ।
गहिअग्घपंकअं विअ संझासलिलञ्जलिं णमह ॥ १ ॥
[पशुपते रोषारुणप्रतिमासंक्रान्तगौरीमुखचन्द्रम् ।
गृहीतार्घपङ्कजमिव सन्ध्यासलिलाञ्जलिं नमत ॥]

पशुपतिकी संध्या-सलिलाञ्जलिको नमस्कार करें—जिसमें गौरीका (जिसके ध्यानमें मग्न हो अञ्जलि प्रदानकर रहे हैं—इससे उत्पन्न) रोषारुण मुखचन्द्र संक्रान्त हुआ है, एवं इस कारण ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मानो अर्घपद्म ही ले लिया गया है ॥ १ ॥

अमिअं पाउअकव्वं पढिउं सोउं अ जे ण आणन्ति ।
कामस्स तत्ततन्तिं कुणन्ति ते कहँ ण लज्जन्ति ॥ २ ॥
[अमृतं प्राकृतकाव्यं पठितुं श्रोतुं च ये न जानन्ति ।
कामस्य तत्त्वचिन्तां कुर्वन्तस्ते कथं न लज्जन्ते ॥]

जो अमृत सरीखे प्राकृतकाव्यका पाठ एवं श्रवण करना नहीं जानते वे कामकी तत्त्वचिन्तामें प्रवृत्त हो लज्जित क्यों नहीं होते ? ॥ २ ॥

सत्त सताइं कइवच्छलेण कोडीअ मज्झआरम्मि ।
हालेण विरइआइं सालङ्काराणँ गाहाणम् ॥ ३ ॥
[सप्तशतानि कविवत्सलेन कोटेर्मध्ये ।
हालेन विरचितानि सालङ्काराणां गाथानाम् ॥]

अलङ्कारविभूषित गाथाओंकी कोटिमें से केवल सात सौ गाथाएँ जिन्हें कविवत्सल हाल ने प्रणीत किया था संगृहीत की गई हैं ॥ ३ ॥

उअ णिच्चलणिप्पन्दा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ।
णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ संखसुत्ति व्व ॥ ४ ॥

[पश्य निश्चलनिःस्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव ॥]

देखो, पद्मपत्रके ऊपर बलाका निश्चल एवं निःस्पन्द भावसे अवस्थित हो वैसे ही शोभा पा रही है, जैसे कि निर्मल (शुभ्र) मरकतभाजनके ऊपर शङ्ख शुक्ति अवस्थित हो ॥ ४ ॥

ताव च्चिअ रइसमए महिलाणं विब्भमा विराअन्ति।
जाव ण कुवलअदलसच्छहाइँ मउलेन्ति णअणाइं ॥ ५ ॥

[तावदेव रतिसमये महिलानां विभ्रमा विराजन्ते।
यावन्न कुवलयदलसच्छायानि मुकुलीभवन्ति नयनानि ॥]

रतिवेलामें ललनाओंके विभ्रम तभी तक शोभा पाते हैं जब तक कि उनके कुवलय दलकी-सी सुन्दर कान्तिवाले नयन मुकुलित नहीं हो जाते ॥५॥

णोहलिअमप्पणो किं ण मग्गसे मग्गसे कुरवअस्स।
एअं तुह सुहअ हसइ वलिआणणपंकअं जाआ ॥ ६ ॥

[दोहदमात्मनः किं न मृगयसे मृगयसे कुरबकस्य।
एवं तव सुभग हसति वलिताननपङ्कजं जाया ॥]

हे सुभग, तुम अपने कुरबकवृक्षके निमित्त तदीय आलिङ्गनरूप दोहदकी प्रार्थना कर रहे हो—अपने निजके लिए नहीं। इसी कारण तुम्हारी जाया अपना मुखपद्म तिरछा करके हँस रही है ॥ ६ ॥

ताविज्जन्ति असोएहिँ लडहविआओ दइअविरहम्मि।
किं सहइ कोवि कस्स वि पाअपहारं पहुप्पन्तो ॥ ७ ॥

[ताप्यन्ते अशोकैर्विदग्धवनिता दयितविरहे।
किं सहते कोऽपि कस्यापि पादप्रहारं प्रभवन् ॥]

प्राणप्रियके विरहमें विदग्ध वनिताएँ अशोकवृक्ष द्वारा भी तापित होती हैं—प्रभावशाली होनेपर क्या कोई किसीका पादप्रहार सहन करता है ? ॥७॥

अज्जा तइ रमणिज्जं अहं गामस्स मण्डणीहूअं।
लुअतिलवाडिसरिच्छं सिसिरेण कअं भिसिणिसण्डं ॥ ८ ॥

[अद्य तथा रमणीयमस्माकं ग्रामस्य मण्डनीभूतम्।
लूनतिलवाटीसदृशं शिशिरेण कृतं बिसिनीषण्डम् ॥]

हे श्वश्रु, शिशिर ऋतुने हमलोगोंके ग्रामके शोभास्वरूप उस पद्मखण्डको छिन्नतिलक्षेत्रके समान बना दिया है [कहीं ऐसा न हो कि संकेतस्थान तिलक्षेत्रपर जार उपस्थित हो] ॥ ८ ॥

किं रुअसि ओणअमुही धवलाअन्तेसु सालिछित्तेसु ।
हरिआलमण्डिअमुही णडि व्व सणवाडिआ जाआ ॥ ९ ॥
[किं रोदिष्यवनतमुखी धवलायमानेषु शालिक्षेत्रेषु ।
हरितालमण्डितमुखी नटीव शणवाटिका जाता ॥]

पके हुए शालिक्षेत्रोंके सफेद दिखायी पड़नेपर तुम मुखड़ेको नीचे कर रो क्यों रही हो? पीतपुष्पमण्डित शणवाटिका (तो) हरिताल द्वारा मण्डित वदना नटीकी नाईं दिखायी दी पड़ रही है ॥ ९ ॥

सहि ईरिसिच्चिअ गई मा रुव्वसु तंसवलिअमुहअन्दं ।
एआणँ वालवालुङ्कितन्तुकुडिलाणँ पेम्माणं ॥ १० ॥
[सखि ईदृश्येव गतिर्मा रोदीस्तिर्यग्वलितमुखचन्द्रम् ।
एतेषां बालकर्कटीतन्तुकुटिलानां प्रेम्णाम् ॥]

हे सखि, शिशुककटिका तन्तुकी भाँति प्रणयकी गति कुटिल होती है (अतः) अपने मुखचन्द्रको तिरछा कर रोदन मत करो ॥ १० ॥

पाअपडिअस्स पइणो पुट्ठिं पुत्ते समारुहन्तम्मि ।
दढमण्णुदूणिआएँ वि हासो घरिणीएँ णिक्कन्तो ॥
[पादपतितस्य पत्युः पृष्ठं पुत्रे समारोहति ।
दृढमन्युदूनाया अपि हासो गृहिण्या निष्क्रान्तः ॥]

पैरोंपर गिरे [illegible] पतिकी पीठपर पुत्रको चढ़ते हुए देखकर, कोपके कारण अत्यन्त दुःखित गृहिणी (के मुँह) से भी हँसी फूट पड़ी ॥ ११ ॥

सच्चं जाणइ दट्ठुं सरिसम्मि जणम्मि जुज्जए राओ ।
मरउ ण तुमं भणिस्सं मरणं वि सलाहणिज्जं से ॥

[सत्यं जानाति द्रष्टुं सदृशे जने युज्यते रागः ।
म्रियतां न त्वां भणिष्यामि मरणमपि श्लाघनीयं तस्याः ॥]

हमारी सखी सत्य ही देखना जानती है कि सदृश जनोंमें ही अनुराग उपयुक्त होता है। उसे मरने दो, मैं तुमसे उस (के जीवन) के विषयमें कुछ नहीं कहूँगी, उसकी मृत्यु भी श्लाघनीय है ॥ १२ ॥

घरिणीएँ महाणसकम्मलग्गमसिमलिइएण हत्थेण ।
छित्तं मुहं हसिज्जइ चन्दावत्थं गअं पइणा ॥
[गृहिण्या महानसकर्मलग्नमषीमलिनितेन हस्तेन ।
स्पृष्टं मुखं हस्यते चन्द्रावस्थां गतं पत्या ॥]

रन्धनकर्ममें रत, कालिमा द्वारा मलिन हाथसे स्पृष्ट, गृहिणीके मुखड़ेको चन्द्रमाकी दशाको प्राप्त होते देखकर पति हँसता है ॥ १३ ॥

रन्धणकम्मणिउणिए मा जूरसु, रत्तपाडलसुअन्धं ।
मुहमारुअं पिअन्तो धूमाइ सिही ण पज्जलइ ॥ १४ ॥
[रन्धनकर्मनिपुणिके मा क्रुध्यस्व रक्तपाटलसुगन्धम् ।
मुखमारुतं पिबन्धूमायते शिखी न प्रज्वलति ॥]

हे रन्धनकर्मनिपुणिके, खिन्न मत हो । रक्त पाटलपुष्पकेसे सुगंधित तुम्हारे मुख मारुत पानके उद्देश्यसे ही अग्नि केवल धूमायमान अवस्थामें रह रहा है, प्रज्वलित नहीं हो रहा है ॥ १४ ॥

किं किं दे पडिहासइ सहीहिँ इअ पुच्छिआएँ मुद्धाए ।
पढमुग्गअदोहणीएँ णवरं दइअं गआ दिट्ठी ॥ १५ ॥
[किं किं ते प्रतिभासते सखीभिरिति पृष्टाया मुग्धायाः ।
प्रथमोद्गतदोहदिन्याः केवलं दयितं गता दृष्टिः ॥

'कौन कौन सी वस्तु तुम्हें रुचिकर रूपमें प्रतिभासित होती है'—सखियों द्वारा ऐसा पूछा जानेपर प्रथम बार उद्भूत गर्भाभिलाषधारिणी मुग्धा रमणी की दृष्टि केवल प्रीतमकी ओर ही गई ॥ १५ ॥

अमअमअ गअणसेहर रअणीमुहतिलअ चन्द दे छिवसु ।
छित्तो जेहिँ पिअअमो ममं पि तेहिं विअ करेहिं ॥ १६ ॥
[अमृतमय गगनशेखर रजनीमुखतिलक चन्द्र हे स्पृश ।
स्पृष्टो यैः प्रियतमो मामपि तैरेव करैः ॥

हे चन्द्र, तुम अमृतमय हो, गगन के शेखर हो एवं रजनी (रूपी नायिका) के मुखतिलक हो—जिन किरणों द्वारा तुमने मेरे प्रीतमका स्पर्श किया है, उन्हीं के द्वारा मेरा भी स्पर्श करो ॥ १६ ॥

एहिइ सो वि पउत्थो अहं अ कुप्पेज्ज सो वि अणुणेज्ज ।
इअ कस्स वि फलइ मणोरहाणँ माला पिअअमम्मि ॥ १७ ॥

[पश्यति सोऽपि प्रोषितोऽहं च कुपिष्यामि सोऽप्यनुनेष्यति ।
इति कस्या अपि फलति मनोरथानां माला प्रियतमे ॥]

प्रोषित वे भी लौट आयेंगे, मैं भी कोप-प्रदर्शन करूँगी एवं वे भी अनुनय करेंगे। प्रियतमके संबंधमें इस प्रकारके मनोरथ समूहोंकी माला किसी भाग्यवतीको ही फलवती होती है ॥ १७ ॥

दुग्गअकुडुम्बअट्टी कहँ णु मए धोइएण सोढव्वा।
दसिओसरन्तसलिलेण उअह रुण्णं व पडएण ॥ १८ ॥

[दुर्गतकुटुम्बाकृष्टिः कथं नु मया धौतेन सोढव्या।
दशापसरत्सलिलेन पश्यत रुदितमिव पटकेन ॥

'धोए जाने पर मैं दुर्गतकुटुम्बगण द्वारा किये हुए आकर्षणको किस प्रकार सहूँगी—मानो ऐसा ही कहकर वस्त्रखण्ड प्रान्तभाग से विगलित जलके छलसे रोदनकर रहा है ॥ १८ ॥

कोसम्बकिसलअवण्णअ तण्णअ उण्णामिएहिँ कण्णेहिं।
हिअअट्ठिअं घरं वच्चमाण धवलत्तणं पाव ॥ १९ ॥

[कोशाम्रकिसलयवर्णक तर्णक उन्नामिताभ्यां कर्णाभ्याम् ।
हृदयस्थितं गृहं व्रजन्धवलत्वं प्राप्नुहि ॥]

हे उन्नमित-कर्ण वत्स, कोष-विनिर्गत-आम्रकिसलयका वर्ण तुम धारणकर रहे हो—तुम अपने हृदयाभिप्रेत गृहमें प्रविष्ट हो धवलता प्राप्त करो ॥ १९ ॥

अलिअपसुत्तअ विणिमीलिअच्छ दे सुहअ मज्झ ओआसं।
गण्डपरिउम्बणापुलइअङ्ग ण पुणो चिराइस्सं ॥ २० ॥

[अलीकप्रसुप्तक विनिमीलिताक्ष हे सुभग ममावकाशम् ।
गण्डपरिचुम्बनापुलकिताङ्ग न पुनश्चिरयिष्यामि ॥]

हे सुभग, अलीकनिद्रामें नयनोंको निमीलित करनेपर भी तुम अपने गण्डचुम्बनपर पुलकिताङ्ग होते हो, बारबार मुझे स्थान दो, मैं अब देरी देर नहीं करूँगी ॥ २० ॥

असमत्तमण्डणा विअ वच्च घरं से सकोउहल्लस्स।
वोलाविअहलहलअस्स पुत्ति चित्ते ण लग्गिहिसि ॥ २१ ॥

[असमाप्तमण्डनैव व्रज गृहं तस्य सकौतूहलस्य।
व्यतिक्रान्तौत्सुक्यस्य पुत्रि चित्ते न लगिष्यसि ॥]

उस कौतूहलाक्रान्तके घर, मनावटके पूरे हुए बिना ही प्रवेश करो—हे पुत्रि, यदि उसकी उत्सुकता दूर हो जाय तो हो सकता है कि तुम्हें उसके चित्तमें स्थान न मिले ॥ २१ ॥

आअरपणामिओट्ठं अघडिअणासं असंहअणिडालं ।
वण्णघिअतुप्पमुहिए तीए परिउम्बणं भरिमो ॥ २२ ॥
[आदरप्रणामितौष्ठमघटितनासमसंहतललाटम् ।
वर्णघृतलिप्तमुख्यास्तस्याः परिचुम्बनं स्मरामः ॥]

वर्णनिर्मित घृतद्वारा लिप्तमुखी उस रजस्वला रमणीके परिचुम्बनका स्मरण करता हूँ जिसके लिए उसने आदरपूर्वक ओठ झुका लिया था। परन्तु वर्णचिह्नके भयसे नासिकाको संयोजित नहीं किया एवं ललाटका स्पर्श भी नहीं किया ॥ २२ ॥

अण्णासआइँ देन्ती तह सुरए हरिसविअसिअकवोला ।
गोसे वि ओणअमुही अह सेत्ति पिआं ण सद्दहिमो ॥ २३ ॥
[आज्ञाशतानि ददती तथा सुरते हर्षविकसितकपोला ।
प्रातरप्यवनतमुखी इय सेति प्रियां न श्रद्दध्म ॥]

सुरतके समय हर्षसे पुलकितकपोला होकर विलासके सम्बन्धमें सैकड़ों आज्ञाएँ देनेवाली नायिका ही प्रातः होनेपर अवनतमुखी हो गयी है—यह विश्वास नहीं कर पा रहा हूँ ॥ २३ ॥

पिअविरहो अप्पिअदंसणं अ गरुआइँ दो वि दुक्खाइं ।
जीएँ तुमं कारिज्जसि तीएँ णमो आहिजाईएँ ॥ २४ ॥
[प्रियविरहोऽप्रियदर्शनं च गुरुके द्वे अपि दुःखे ।
यया त्वं कार्यसे तस्यै नम आभिजात्यै ॥]

प्रियजनका विरह एवं अप्रियजनका दर्शन—ये दोनों ही महान् दुःखके कारण हैं—तब भी तुम जिस भाव की प्रेरणा से कार्य करते हो उसी आभिजात्यको नमस्कार करती हूँ ॥ २४ ॥

एक्को वि कह्णसारो ण देइ गन्तुं पआहिणवलन्तो ।
किं उण बाहाउलिअं लोअणजुअलं पिअअमाए ॥ २५ ॥
[एकोऽपि कृष्णसारो न ददाति गन्तुं प्रदक्षिणं वलन् ।
किं पुनर्बाष्पाकुलितं लोचनयुगलं प्रियतमायाः ॥]

एक कृष्णसार मृग हो प्रदक्षिणभावसे चलनेपर लोगोंको जाने नहीं देता—प्रियतमाके बाष्पाकुलित दो लोचन किस प्रकार जाने देंगे ? ॥ २५ ॥

ण कुणन्तो च्चिअ माणं णिसासु सुहसुत्तदरविबुद्धाणं।
सुण्णइअपासपरिमूसणवेअणं जइ सि जाणन्तो ॥ २६ ॥

[नाकरिष्य एव मानं निशासु सुखसुप्तदरविबुद्धानाम् ।
शून्यीकृतपार्श्वपरिमोषणवेदनां यद्यज्ञास्यः ॥]

रात्रिमें सुखसे सोनेवाले व्यक्तियोंमें से कुछ कुछ जागे हुए की शून्यीकृत पार्श्वजनित वेदना यदि तुम जानते तो अपने अपराधको छिपानेके लिए मान न करते ॥ २६ ॥

पणअकुविआणँ दोह्न वि अलिअपसुत्ताणँ माणइल्लाणं।
णिच्चलणिरुद्धणीसासदिण्णकण्णाणँ को मल्लो ॥ २७ ॥

[प्रणयकुपितयोर्द्वयोरप्यलीकप्रसुप्तयोर्मानवतोः ।
निश्चलनिरुद्धनिःश्वासदत्तकर्णयोः को मल्लः ॥]

प्रणयकुपित, मिथ्यानिद्रित, मानयुक्त दम्पति जब निःश्वासका निरोधकर निश्चलभावसे एक दूसरेके निःश्वास शब्दपर कान लगाये रहते हैं, तब इन दो के बीच कौन अधिक समर्थ होता है ? ॥ २७ ॥

णवलअपहरं अङ्गे जेहिँ जेहिँ महइ देअरो दाउं।
रोमञ्चदण्डराई तहिँ तहिँ दीसइ वहूए ॥ २८ ॥

[नवलताप्रहारमङ्गे यत्र यत्रेच्छति देवरो दातुम् ।
रोमाञ्चदण्डराजिस्तत्र तत्र दृश्यते वध्वाः ॥]

नायिकाके अङ्गके जिन जिन स्थानोंपर देवर लता द्वारा प्रहार करनेका इच्छुक है, वधूके उन उन स्थानोंपर रोमाञ्चकण्टकराजि दिखायी पड़ती है ॥२८॥

अज्ज मए तेण विणा अणुहूअसुहाइँ संभरन्तीए।
अहिणवमेहाणँ रवो णिसामिओ वज्झपडहो [illegible] ॥ २९ ॥

[अद्य मया तेन विनानुभूतसुखानि संस्मरन्त्या ।
अभिनवमेघानां रवो निशामितो वध्यपटह इव ॥]

उसके विरहमें आज मैं पूर्वानुभूत सुखराशिकी बातें याद कर नव मेघवृन्द की ध्वनिको वध्यपटह-शब्दके रूपमें सुनती [illegible] ॥ २९ ॥

णिक्किव जाआभीरुअ दुद्दंसण णिम्बईडसारिच्छ ।
गामो गामणिणन्दण तुज्झ कए तह वि तणुआइ ॥ ३० ॥

[निष्कृप जायाभीरुक दुर्दर्शन निम्बकीटसदृश ।
ग्रामो ग्रामणीनन्दन तव कृते तथापि तनुकायते ॥]

हे ग्रामनायकपुत्र, तुम निर्दय एवं जायाभीरु हो, तुम्हारा दर्शन पाना दुष्कर है; तुम निम्बकीट सदृश कुरूपा रमणीपर आसक्त हो; तुम्हारे लिए सारा गाँव दुर्बल होता चला जा रहा है ॥ ३० ॥

पहरवणमग्गविसमे जाआ किच्छेण लहइ से णिद्दं ।
गामणिउत्तस्स उरे पल्ली उण सा सुहं सुअइ ॥ ३१ ॥

[प्रहारव्रणमार्गविषमे जाया कृच्छ्रेण लभते तस्य निद्राम् ।
ग्रामणीपुत्रस्योरसि पल्ली पुनः सा सुखं स्वपिति ॥]

ग्रामणीपुत्रके शस्त्रप्रहारजन्य व्रणचिह्नविषम वक्षःस्थलके ऊपर उसकी जाया अत्यन्त कष्टसे निद्रालाभ करती है, किन्तु, प्रहारद्वारा गम्य वनमार्ग विषम पुरमें वही पल्ली सुखसे सोती है ॥ ३१ ॥

अह संभाविअमग्गो सुहअ तुए जेव्व णवरं णिव्वूढो ।
एह्हिं हिअए अण्णं अण्णं वाआइ लोअस्स ॥ ३२ ॥

[अथ सम्भावितमार्गः सुभग त्वयैव केवलं निर्व्यूढः ।
इदानीं हृदयेऽन्यदन्यद्वाचि लोकस्य ॥]

हे सुभग, केवल तुमने सम्भावित श्रेष्ठ जनोंके पथ का अवलम्बन किया है—आजकल लोगोंके हृदयमें एक भाव दिखायी पड़ता है और वाक्यमें अन्य भाव॥

उण्हाइँ णीससन्तो किंति मह परम्मुहीएँ सअणद्धे ।
हिअअं पलीविअ वि अणुसएण पुट्ठिं पलीवेसि ॥ ३३ ॥

[उष्णानि निःश्वसन् किमिति मम पराङ्मुख्याः शयनार्धे ।
हृदयं प्रदीप्याप्यनुशयेन पृष्ठं प्रदीपयसि ॥]

शय्याके आधेभागमें मैं पराङ्मुख हो सोता हूँ, तब भी तुम उष्ण निःश्वास त्यागकर अनुशयसे मेरे हृदयको प्रदीपित करती हुई होकर भी मेरे पृष्ठदेशको प्रदीपित करती हो ! ॥ ३३ ॥

तुह विरहे चिरआरअ तिस्सा णिवडन्तबाहमइलेण ।
रइरहसिहरघएण व मुहेण छाहि च्चिअ ण पत्ता ॥ ३४ ॥

[तव विरहे चिरकारक तस्या निपतद्बाष्पमलिनेन ।
रविरथशिखरध्वजेनेव मुखेन च्छायैव न प्राप्ता ॥]

हे विलम्बकारक, तुम्हारे विरहमें निपतित वाष्पद्वारा मलिन उसका मुख छायाका अवलंबन नहीं करता, उसी प्रकार जिस प्रकार सूर्यके रथके शिखरपर स्थित ध्वजा छायाको नहीं प्राप्त होती ॥ ३४ ॥

दिअरस्स असुद्धमणस्स कुलवहू णिअअकुड्डलिहिआइं ।
दिअहं कहेइ रामाणुलग्गसोमित्तिचरिआइं ॥ ३५ ॥
[देवरस्याशुद्धमनसः कुलवधूर्निजककुड्यलिखितानि ।
दिवसं कथयति रामानुलग्नसौमित्रिचरितानि ॥]

दूषित चित्त देवरके निकट कुलवधू अपनी भित्ति पर चित्रित या लिखित रामानुरक्त सुमित्रानन्दनके चरितको दिनभर वर्णन करती है ॥ ३५ ॥

चच्चरघरिणी पिअदंसणा अ तरुणी पउत्थपइआ अ ।
असई सअज्झिआ दुग्गआ अ ण हु खण्डिअं सीलं ॥ ३६ ॥
[चत्वरगृहिणी प्रियदर्शना च तरुणी प्रोषितपतिका च ।
असतीप्रतिवेशिनी दुर्गता च न खलु खण्डितं शीलम् ॥]

चौराहेपर जिसका घर हो, फिर भी जो स्त्री प्रियदर्शना हो, जो स्त्री स्वयं तरुणी हो, फिर भी जिसका पति प्रवासी होः एवं असती कामिनी की सह-वासिनी होकर भी जो दरिद्रा हो—इस प्रकारकी नारियों का चरित्र भी खण्डित नहीं होता (अर्थात् अवश्य होता है) ॥ ३६ ॥

जलावत्तभमाउलखुडिअकेसरो गिरिणईएँ पूरेण ।
दरबुड्डुड्डुणिबुड्डमहुअरो हीरइ कलम्बो ॥ ३७ ॥
[जलावर्तभ्रमाकुलखण्डितकेसरो गिरिनद्याः पूरेण ।
दरमग्नोन्मग्ननिमग्नमधुकरो ह्रियते कदम्बः ॥]

गिरि-नदी के जल प्रवाह में कदम्ब वृक्ष डूब रहा है, उसका केसर-समूह जलावर्त के भ्रम से आकुल हो खण्डित हो रहा है एवं इसमें भौंरे कभी ईषन्मग्न, कभी उन्मग्न एवं कभी निमग्न हो रहे हैं ॥ ३७ ॥

अद्दिआअमाणिणो दुग्गअस्स छाहिं पिअस्स रक्खन्ती ।
णिअबन्धवआणं जूरइ घरिणी विहवेण पत्ताणं ॥ ३८ ॥

[आभिजात्यमानिनो दुर्गतस्य छायां पत्यू रक्षन्ती ।
निजबान्धवेभ्य कुप्यति गृहिणी विभवेनागच्छद्भ्य ॥]

अपने कुलाभिमानी दरिद्र पतिकी छाया रक्षा करनेके लिए गृहिणी धन-समृद्धि लेकर आगत बान्धवजनोंके प्रति विरक्ति प्रकाशित करती है ॥ ३८ ॥

साहीणे वि पिअअमे पत्ते वि खणे ण मण्डिओ अप्पा ।
दुग्गअपउत्थवइअं सअज्झिअं सण्ठवन्तीए ॥ ३९ ॥

[स्वाधीनेपि प्रियतमे प्राप्तेपि क्षणे न मण्डित आत्मा ।
दुर्गतप्रोषितपतिकां प्रतिवेशिनीं सस्थापयन्त्या ॥]

पतिके दुर्गत एवं प्रवासी होने पर भी अपनेको दृढ़ रखने वाली यह महिला अपने प्रियतमके स्वाधीन होने पर भी एवं उत्सवमें उपस्थित होने पर भी अपने शरीरको मण्डित नहीं कर रही है ॥ ३९ ॥

तुज्झ वसइ त्ति हिअअं इमेहिँ दिट्ठो तुमं ति अच्छीहिं ।
तुह विरहे किसिआइँ त्ति तीएँ अङ्गाइँ वि पिआइं ॥ ४० ॥

[तव वसतिरिति हृदयमाभ्या दृष्टस्त्वमित्यक्षिणी ।
तव विरहे कृशितानीति तस्या अङ्गान्यपि प्रियाणि ॥]

उसका हृदय तुम्हारा वास स्थान है, उसके नेत्रद्वय द्वारा तुम देखे जाते हो, एवं उसके अङ्ग तुम्हारे विरह में कृश हैं। इस कारण ये सभी उसे प्रिय प्रतीत होते हैं ॥ ४० ॥

सब्भावणेहभरिए रत्ते रज्जिज्जइ त्ति जुत्तमिणं।
अणहिअए उण हिअअं जं दिज्जइ तं जणो हसइ ॥ ४१ ॥

[सद्भावस्नेहभरिते रक्ते रज्यते इति युक्तमिदम् ।
अन्यहृदये पुनर्हृदय यद्दीयते तज्जनो हसति ॥]

ससार सद्भाव एवं स्नेह से पूर्ण जनों पर अनुरक्त होता है यह तो ठीक है किन्तु तुम जो हृदयहीन व्यक्ति को अपना हृदय दे रही हो, इसपर तो लोग हँसेंगे ॥ ४१ ॥

आरम्भन्तस्स धुअं लच्छी मरणं वि होइ पुरिसस्स ।
तं मरणमणारम्भे वि होइ लच्छी उण ण होइ ॥ ४२ ॥

[आरभमाणस्य ध्रुव लक्ष्मीर्मरणं वा भवति पुरुषस्य ।
तन्मरणमनारम्भेऽपि भवति लक्ष्मी पुनर्न भवति ॥]

यह तो निश्चय है कि कार्यारम्भकारीको लक्ष्मीलाभ हो सकता है, मृत्यु भी हो सकती है, किन्तु वह मृत्यु तो कार्यारम्भ हुए बिना भी हो जाती है तथापि लक्ष्मी बिना आरम्भ हुए उपस्थित नहीं होती ॥ ४२ ॥

विरहाणलो सहिज्जइ आसावन्धेण वल्लहजणस्स ।
एक्कग्गामपवासो माए मरणं विसेसेइ ॥ ४३ ॥

[विरहानलः सह्यते आशाबन्धेन वल्लभजनस्य ।
एकग्रामप्रवासो मातर्मरणं विशेषयति ॥]

प्रियजनों का विरहानल आशाके कारण सहन किया जाता है, किन्तु, हे मात, एक ही ग्राममें वास करनेके कारण यदि प्रवास हो जाय तो वह मृत्युसे भी बढ़कर है ॥ ४३ ॥

अक्खडइ पिआ हिअए अण्णं महिलाअणं रमन्तस्स ।
दिट्ठे सरिसम्मि गुणे असरिसम्मि गुणे अईसन्ते ॥ ४४ ॥

[आस्खलति प्रिया हृदये अन्य महिलाजनं रममाणस्य ।
दृष्टे सदृशे गुणे असदृशे गुणे अदृश्यमाने ॥]

अन्य महिलाओं के साथ रमण करनेवाले हृदयके सदृश गुण दिखायी पड़नेपर भी असदृश गुण दिखनेपर प्रिया जाग उठती है ॥ ४४ ॥

णइऊरसच्छहे जोव्वणम्मि अइपवसिएसु दिअसेसु ।
अणिअत्तासु अ राईसु पुत्ति किं दड्ढमाणेण ॥ ४५ ॥

[नदीपूरसदृशे यौवने अतिप्रोषितेषु दिवसेषु ।
अनिवृत्तासु च रात्रिषु पुत्रि किं दग्धमानेन ॥]

नदीकी बाढ़की भाँति यौवन अल्पस्थायी है, दिन बीतते जाते हैं एवं रात भी अब लौटकर नहीं आयेंगी । हे पुत्रि, दग्धमान द्वारा क्या मिलेगा ? ॥ ४५ ॥

कल्लं किल खरहिअओ पवसिहिहि पिओत्ति सुण्णइ जणम्मि ।
तह वड्ढ भअवइ णिसे जह से कल्लं विअ ण होइ ॥ ४६ ॥

[कल्य किल खरहृदय प्रवत्स्यति प्रिय इति श्रूयते जने ।
तथा वर्धस्व भगवति निशे यथा तस्य कल्यमेव न भवति ॥]

ऐसा सुना जाता है कि मेरा क्रूरहृदय प्रियतम प्रात ही प्रवासार्थ जायेगा, हे निशादेवि, तुम इस प्रकार बढ़ जाओ कि प्रात ही न हो ॥ ४६ ॥

होन्तपहिअस्स जाआ आउच्छणजीअधारणरहस्सं ।
पुच्छन्ती भमइ घरं घरेण पिअविरहसहिरीओ ॥ ४७ ॥

[भविष्यत्पथिकस्य जाया आपृच्छनजीवधारणरहस्यम् ।
पृच्छन्ती भ्रमति गृहं गृहेण प्रियविरहसहनशीलाः ॥]

भविष्यमें प्रवासगमनेच्छु व्यक्तिकी जाया, घर-घर घूमकर विदाईके समय प्राण-धारण करनेका रहस्य उनसे पूछ रही है जिन्होंने प्रियका विरह सहन किया है ॥ ४७ ॥

अण्णमहिलापसङ्गं दे देव करेसु अह्म दइअस्स ।
पुरिसा एकन्तरसा ण हु दोसगुणे विआणन्ति ॥ ४८ ॥

[अन्यमहिलाप्रसङ्गं हे देव कुर्वस्माकं दयितस्य ।
पुरुषा एकान्तरसा न खलु दोषगुणौ विजानन्ति ॥]

हे देव, हमारे प्रियतमके निमित्त दूसरी महिलाकी आसक्तिका विधान करो, नहीं तो पुरुष एक-रसास्वादी हो जायेंगे एवं किसीके दोष तथा गुणको विशेष भावसे नहीं समझ पायेंगे ॥ ४८ ॥

थोअं पि ण णीसरई मज्झण्हे उह सरीरतललुक्का ।
आअवभएण छाई वि पहिअ ता किं ण वीसमसि ॥ ४९ ॥

[स्तोकमपि न निःसरति मध्याह्ने पश्य शरीरतललीना ।
आतपभयेन छायापि पथिक तत्किं न विश्राम्यसि ॥]

हे पथिक, मध्याह्नमें धूपके भयसे छाया भी शरीरमें छिप जाती है, बाहर नहीं निकलती, अतः हमारे यहाँ तुम भी विश्राम क्यों नहीं करते? ॥ ४९ ॥

सुहउच्छअं जणं दुल्लहं पि दूराहि अम्ह आणन्त ।
उअआरअ जर जीअं पि णेन्त ण कआवराहोसि ॥ ५० ॥

[सुखपृच्छकं जनं दुर्लभमपि दूरादस्माकमानयन् ।
उपकारक ज्वर जीवमपि नयन्न कृतापराधोऽसि ॥]

हे ज्वर, तुमने मेरे ऊपर बड़ा उपकार किया । दूरसे हमारे सुखलिप्सु दुर्लभ जनको हमारे निकट लाकर तुम यदि हमारे प्राणको भी ले जा सको तो भी तुम्हे अपराधी नहीं कहूँगी ॥ ५० ॥

आमजरो मे मन्दो अहव ण मन्दो जणस्स का तन्ती ।
सुहउच्छअ सुहअ सुअन्ध अन्ध मा अन्धिअं छिवसु ॥ ५१ ॥

[आमोऽन्यतो मे गन्धोऽथवा न गन्धो ग्रामस्य ■ चिन्ता ।
सुरतजिज्ञासक सुभग सुगन्धगन्ध मा गन्धितां दद्या ॥]

हे सुरतजिज्ञासाकारिन्, हे सुभग, हे सुगन्ध गन्ध युक्त, मेरा भाग उत्तर गन्ध है अथवा अगन्ध् इस विषयमें संसारको चिन्ता क्यों है ? तुम उत्तर की गन्धसे पुत्तको मत दूना ॥ ५१ ॥

सिहिपिच्छलुलिअकेसे वेवन्तोरु विणिमीलिअद्धच्छि ।
दरपुरिसाइरि विसमरि जाणसु पुरिसाणँ जं दुक्खं ॥ ५२ ॥
[शिखिपिच्छलुलितकेशे वेपमानोरु विनिमीलितार्धाक्षि ।
ईषत्पुरुषायिते विश्रामशीले जानीहि पुरुषाणां यद्दुःखम् ॥]

हे ईषत्पुरुषायित कार्यमें विराम करनेवाली, तुम्हारे केश मयूरपुच्छके समान लुलित हैं, तुम्हारे ऊरुद्वय कम्पमान हैं एवं तुम्हारी आधी आँख विशेष आयसे मुँदी हुई दिखती है । समझ लो पुरुषों को कितनी पीड़ा है ॥ ५२ ॥

पेम्मस्स विरोहिअसंधिअस्स पच्चक्खदिट्ठविलिअस्स ।
उअअस्स व ताविअसीअलस्स विरसो रसो होइ ॥ ५३ ॥
[प्रेम्णो विरोधितसंधितस्य प्रत्यक्षदृष्टव्यलीकस्य ।
उदकस्येव तापितशीतलस्य विरसो रसो भवति ॥]

जो प्रेम पहले विच्छिन्न होकर बाद में सन्धानयुक्त होता है, एवं जिस प्रेम में अपराध प्रत्यक्षतः दिखायी पड़ रहा है, उस प्रेमका रस पहले गरम किये और बाद में ठण्डे किये हुए जलकी भाँति विरस हो जाता है ॥ ५३ ॥

वज्जवडणाइरित्तं पइणो सोऊण सिञ्जिणीघोसं ।
पुसिआइं करिमरीणँ सरिसबन्दीणं पि णअणाइं ॥ ५४ ॥
[वज्रपतनातिरिक्तं पत्युः श्रुत्वा शिञ्जिनीघोषम् ।
प्रोञ्छितानि बन्द्या सदृशबन्दीनामपि नयनानि ॥]

वज्रपातके शब्द की अपेक्षा अधिक गम्भीर स्वामीके धनुष टंकार शब्द को सुनकर बन्दी अपने जैसे अन्य बन्दियोंके नयनोंको पोंछ दे रही है ॥ ५४ ॥

सहइ सहइ त्ति तह तेण रामिआ सुरअदुव्विअड्ढेण ।
पव्वाअसिरीसाइँ व जह से जाआइँ अंगाइं ॥ ५५ ॥
[सहते सहत इति तथा तेन रमिता सुरतदुर्विदग्धेन ।
प्रम्लानशिरीषाणीव यथास्या जातान्यङ्गानि ॥]

सहन कर रही है, सहन कर रही है इस प्रकार सुरतकार्यमें दुर्विदग्ध यह वेश्यानायिका पुरुषों द्वारा इस प्रकार रमित होती है कि उसके अङ्ग प्रम्लान शिरीषपुष्पकी भाँति हो गए हैं ॥ ५५ ॥

अगणिअसेसजुआणा बालअ वोलीणलोअमज्जाआ।
अह सा भमइ दिसामुहपसारिअच्छी तुह कएण ॥ ५६ ॥
[अगणिताशेषयुवा बालक व्यतिक्रान्तलोकमर्यादा।
अथ सा भ्रमति दिशामुखप्रसारिताक्षी तव कृतेन ॥]

हे बालक, वह अशेष अन्य युवकोंकी गणना नहीं करती, केवल तुम्हारे अन्वेषणमें लोकमर्यादा को त्यागकर दिङ्मुखकी ओर नेत्र प्रसारित कर घूम रही है ॥ ५६ ॥

वन्दिमरि अआलगज्जिरजलआसणिपडणपडिरवो एसो।
पइणो धणुरवकङ्खिरि रोमञ्चं किं मुहा वहसि ॥ ५७ ॥
[बन्दि अकालगर्जनशीलजलदाशनिपतनप्रतिरव एष।
पत्युर्धनूरवाकाङ्क्षणशीले रोमाञ्चं किं मुधा वहसि ॥]

हे बन्दि, जो तुम सुन रही हो वह तो अकाल गर्जनशील मेघके अशनिपतन की प्रतिध्वनिमात्र है। हे पतिके धनुष बाणके रवको सुननेकी अभिलाषिणि, व्यर्थ ही रोमाञ्चको क्यों वहन करती हो ॥ ५७ ॥

अज्ज च्चेअ पउत्थो उज्जाअरओ जणस्स अज्जे अ।
अज्जे अ हलिद्दापिञ्जराइँ गोलाणइतडाइँ ॥ ५८ ॥
[अद्यैव प्रोषित उज्जागरको जनस्याद्यैव।
अद्यैव हरिद्रापिञ्जराणि गोदानदीतटानि ॥]

आज ही (मेरा पति) प्रवासमें गया है, आज ही सखियोंका जागना आरम्भ हुआ है एवं आज ही गोदावरीका तट प्रदेश हरिद्रा से पिञ्जरवर्ण हुआ है ॥५८॥

असरिसचित्ते दिअरे सुद्धमणा पिअअमे विसमसीले।
ण कहइ कुडुम्बविहडणभएण तणुआअए सोह्णा ॥ ५९ ॥
[असदृशचित्ते देवरे शुद्धमना प्रियतमे विषमशीले।
न कथयति कुटुम्बविघटनभयेन तनुकायते स्नुषा ॥]

देवरके दूषित चित्त होनेपर भी बादमें कुटुम्ब विघटन होनेके भयसे शुद्ध-

चिता वधूने अत्यन्त विषम स्वभाव वाले पतिसे कुछ कहा नहीं, फिर भी वह कृश होती जा रही है ॥ ५९ ॥

चिराणिअदइअसमागमम्मि कअमण्णुआइँ भरिऊण ।
सुण्णं कलहाअन्ती सहीहिँ रुण्णा ण ओहसिआ ॥ ६० ॥

[चिरानीतदयितसमागमे कृतमन्युकानि स्मृत्वा ।
शून्यं कलहायमाना सखीभी रुदिता नोपहसिता ॥]

चिरसे आनीत प्रियतमका समागम होनेपर उसके अपने क्रोधके कारणोंको याद कर वृथा कलहकारिणी होनेपर अन्य सखियाँ उसके लिए रोती ही हैं, उसका उपहास नहीं करतीं ॥ ६० ॥

हिअअण्णुएहिँ समअं असमत्ताइं पि जह सुहाअन्ति ।
कज्जाइँ मणे ण तहा इअरेहिँ समाविआइं पि ॥ ६१ ॥

[हृदयज्ञैः सममसमाप्तान्यपि यथा सुखयन्ति ।
कार्याणि मन्ये न तथा इतरैः समापितान्यपि ॥]

मुझे प्रतीत होता है कि हृदयज्ञ पुरुषोंके साथ अचरितार्थ कार्यकलाप जितना सुखदायक होता है, अहृदयज्ञ पुरुषोंके साथ चरितार्थ कार्यकलाप भी उतना सुखदायक नहीं होता ॥ ६१ ॥

दरफुडिअसिप्पिसंपुडणिलुक्कहालाहलग्गछेप्पणिहं ।
पक्कम्बट्ठिविणिग्गअकोमलमम्बंकुरं उअह ॥ ६२ ॥

[ईषत्स्फुटितशुक्तिसम्पुटविलीनहालाहलाग्रपुच्छनिभम् ।
पक्वाम्रास्थिविनिर्गतकोमलमाम्राङ्कुरं पश्यत ॥]

पके हुए आमसे निकले हुए इस अंकुरको देखो। यह जैसे ईषत् स्फुटित शुक्तिसंपुटमें निलीन हलाहलके अग्रपुच्छ सी दिखायी पड़ती है ॥ ६२ ॥

उअह पडलन्तरोइण्णणिअअतन्तुद्धपाअपडिलग्गं ।
दुल्लक्खसुत्तगुत्थेक्कबउलकुसुमं व मक्कडअं ॥ ६३ ॥

[पश्यत पटलान्तरावतीर्णनिजकतन्तूर्ध्वपादप्रतिलग्नम् ।
दुर्लक्ष्यसूत्रग्रथितैकबकुलकुसुममिव मर्कटकम् ॥]

पटलके अन्तरसे विलंबित अपने तन्तुके ऊर्ध्वपादमें प्रतिलग्न मर्कटकको देखो। यह दुर्लक्ष्य सूत्रमें ग्रथित एक बकुलकुसुम सा लक्षित हो रहा है ॥

उअरि दरदिट्ठथण्णुअणिलुक्कपारावआण विरुएहिं ।
णित्थणइ जाअवेअणं सूलाहिण्णं व देउलं ॥ ६४ ॥

[उपरीपदद्दृष्टकुक्षिनीडपारावतानां विरुतैः ।
निस्तनति आतवेदन शूलाभिन्नमिव देवकुलम् ॥]

मन्दिरके ऊपरकी ओर कुछ कुछ दिखायी पड़नेवाली कीलकमें निलीन पारावत गण कूजन द्वारा जैसे देवकुल शूलद्वारा भिन्न हो वेदनासे रव कर रहा है ॥ ६४ ॥

जइ होसि ण तस्स पिआ अणुदिअहं णीसहेहिँ अङ्गेहिं ।
णवसूअपीअपेऊसमत्तपाडि व्व किं सुवसि ॥ ६५ ॥

[यदि भवति न तस्य प्रियानुदिवस नि सहैरङ्गै ।
नवसूतपीतपीयूषमत्तमहिषीवत्सेव किं स्वपिषि ॥]

यदि तुम उसकी प्रिय नहीं हो तो प्रतिदिन नि सह अग लेकर नवप्रसूत पीयूष पानेमें मत्त महिषीवत्सा की भाँति क्यों सोती हो ? ॥ ६५ ॥

हेमन्तिआसु अइदीहराासु राईसु तं सि अविणिद्दा ।
चिरअरपउत्थवइए ण सुन्दरं जं दिआ सुवसि ॥ ६६ ॥

[हैमन्तिकास्वतिदीर्घासु रात्रिषु त्वमस्यविनिद्रा ।
चिरतरप्रोषितपतिके न सुन्दर यद्दिवा स्वपिषि ॥]

हे रमणी, तुम्हारा प्रिय बहुत समयके लिए प्रवासमें गया है, तुम हेमन्त ऋतुकी इस अतिदीर्घ रात्रिमें निद्राविच्छेदका अनुभव न करके भी दिनके समय सोई रहती हो, यह सुन्दर कार्य नहीं है ॥ ६६ ॥

जइ चिक्खल्लुभउप्पअपअमिणमलसाइ तुह पए दिण्णं ।
ता सुहअ कण्टइज्जन्तमंगमेहिं किणो वहसि ॥ ६७ ॥

[यदि कर्दमभयोत्प्लुतपदमिदमलसया तव पदे दत्तम् ।
तत्सुभगकण्टकितमङ्गमिदानीं किमिति वहसि ॥]

यदि यह अलसायमान पङ्कके भयसे कुदाइ मारकर तुम्हारे पैरपर पद पैर निक्षेप कर रही है, ऐसा होने पर, हे सुभग, अब तुम अपने रोमाञ्चित अङ्ग क्यों वहन ■■ रहे हो ? ॥ ६७ ॥

पत्तो छणो ण सोहइ अइप्पहा पव्व पुण्णिमाअन्दो ।
अन्तविरसो व्व कामो असपआणो अ परिओसो ॥ ६८ ॥

[प्राप्त क्षणो न शोभते अतिप्रभात इव पूर्णिमाचन्द्र ।
अन्तविरस इव कामोऽसम्प्रदानश्च परितोष ॥]

अत्यन्त सबेरे पूर्णिमाका चन्द्र, अवसानपर रसशून्य कामना एवं संप्रदान-रहित परितोष, जिस प्रकार शोभा नहीं पाते, उसी प्रकार उत्सव उपस्थित हो जानेपर ही शोभा नहीं बढ़ जाती ॥ ६८ ॥

पाणिग्गहणे व्विअ पव्वईऍ णाअं सहीहिँ सोहग्गं।
पसुवइणा वासुइकङ्कणम्मि ओसारिए दूरं ॥ ६९ ॥
[पाणिग्रहण एव पार्वत्या ज्ञातं सखीभिः सौभाग्यम् ।
पशुपतिना वासुकिकङ्कणेऽपसारिते दूरम् ॥]

पाणिग्रहणके ही समय पशुपतिको वासुकिरूप कङ्कण दूर करते देख सखियोंने पार्वतीका सौभाग्य जान लिया ॥ ६९ ॥

गिम्हे दवग्गिमसिमइलिआइँ दीसन्ति विञ्झसिहराइं।
आससु पउत्थवइए ण होन्ति णवपाउसब्भाइं ॥ ७० ॥
[ग्रीष्मे दवाग्निमषीमलिनितानि दृश्यन्ते विन्ध्यशिखराणि ।
आश्वसिहि प्रोषितपतिके न भवन्ति नवप्रावृडभ्राणि ॥]

हे प्रोषितपतिके, आश्वस्त हो जाओ, ग्रीष्मकालमें दावानलकी मसिद्वारा मलिनित ये विन्ध्यशिखर समूह दिखायी पड़ते हैं, ये नववर्षाके मेघमाला नहीं हैं ॥

जेत्तिअमेत्तं तीरइ णिव्वोढुं देसु तेत्तिअं पणअं।
ण जणो विणिअत्तपसाअदुक्खसहणक्खमो सव्वो ॥ ७१ ॥
[यावन्मात्रं शक्यते निर्वोढुं देहि तावन्तं प्रणयम् ।
न जनो विनिवृत्तप्रसाददुःखसहनक्षमः सर्वः ॥]

जितना प्रणय निर्दोष भावसे वहन किया जा सकता है, उतना ही प्रणय दो। कारण, प्रसादविनिवृत्त होनेपर तज्जनित दुःख सहनेमें सभी समर्थ नहीं होते ॥ ७१ ॥

बहुवल्लहस्स जा होइ वल्लहा कह वि पञ्च दिअहाइं।
सा किं छट्ठं मग्गइ कत्तो मिट्ठं अ बहुअं अ ॥ ७२ ॥
[बहुवल्लभस्य या भवति वल्लभा कथमपि पञ्च दिवसानि ।
सा किं षष्ठं मृगयते कुतो मृष्टं च बहुकं च ॥]

जो नायक अनेक प्रियाओंको अनुगृहीत करता है, उसकी जो कोई प्रिया हो वह पाँच दिन तक ही उसकी परीक्षा करती है। वह क्या छठे दिन तक

प्रतीक्षा करती है, कारण जो अनुकूल या मधुर होता है उसे अधिक पाना सुकृतसापेक्ष है ॥ ७२ ॥

जं जं सो णिज्झाअइ अङ्गोआसं महं अणिमिसच्छो ।
पच्छाएमि अ तं तं इच्छामि अ तेण दीसन्तं ॥ ७३ ॥

[यद्यत्स निर्ध्यायत्यङ्गावकाशं ममानिमिषाक्षः ।
प्रच्छादयामि च तं तमिच्छामि च तेन दृश्यमानम् ॥]

मेरे जिन जिन अङ्गावकाशोंकी ओर वह एकटक देखता है, उन अङ्गावकाशों को मैं प्रच्छादित भी करती हूँ, और फिर वह भी इच्छा करती हूँ कि वह उन्हें देखे ॥ ७३ ॥

दिढमण्णुदूमिआएँ वि गहिओ दइअम्मि पेच्छह इमाए ।
ओसरइ वालुआमुट्ठि व्व माणो सुरसुरन्तो ॥ ७४ ॥

[दृढमन्युदूनयापि गृहीतो दयिते पश्यतानया ।
अपसरति वालुकामुष्टिरिव मानः सुरसुरायमाणः ॥]

देखो, कोपवश अत्यन्त व्यथित हो इसने प्रियतम से मान किया है, किन्तु वह मान वालुकामुष्टि की भाँति सुर् सुर् कर अपसृत हो जाता है ॥ ७४ ॥

उअ पोम्मराअमरगअसंवलिआ णहअलाओ ओअरइ ।
णह सिरिकण्ठब्भट्ठ व्व कण्ठिआ कीररिञ्छोली ॥ ७५ ॥

[पश्य पद्मरागमरकतसंवलिता नभस्तलादवतरति ।
नभःश्रीकण्ठभ्रष्टेव कण्ठिका कीरपङ्क्तिः ॥]

देखो, नभलक्ष्मीके कण्ठदेशसे अवतरित, पद्मराग एवं मरकतद्वारा सवलित कण्ठिकानामक हारयष्टीके समान आकाशतलसे शुकपङ्क्ति उतर रही है ॥ ७५ ॥

ण वि तह विएसवासो दोगच्चं मह जणेइ संतावं ।
आसंसिअत्थविमणो जह पणइजणो णिअत्तन्तो ॥ ७६ ॥

[नापि तथा विदेशवासो दौर्गत्यं मम जनयति सन्तापम् ।
आशंसितार्थविमना यथा प्रणयिजनो निवर्तमानः ॥]

मेरे न सोढइ ... स एव अपनी दुर्गति उतना सन्ताप नहीं उत्पन्न करती जितना प्रणयी ... कामाशंसित विषयसे विमुख या विमना होनेके उपरान्त प्रत्यावर्तन ... उत्पन्न करते हैं ॥ ७६ ॥

... कां तणेहिँ गामम्मि रक्खिओ पहिओ ।
देज्जइ सासुसयण व्व सीएण ॥ ७७ ॥

[स्कन्धाग्निना वनेषु तृणैर्ग्रामे रक्षितः पथिकः ।
नगरोषितः स्विद्यते सानुशयेनेव शीतेन ॥]

जो पथिक वनोंमें स्थूल काष्ठाग्नि द्वारा एवं ग्रामोंमें तृण द्वारा शीतसे अपनी रक्षा करता है वह नगरमें वास करने जाकर अनुशययुक्त शीत द्वारा जैसे खिन्न हो रहा है ॥ ७७ ॥

भरिमो से गहिआहरधुअसीसपहोलिरालआउलिअं ।
वअणं परिमलतरलिअभमरालिपइण्णकमलं व ॥ ७८ ॥
[स्मरामस्तस्या गृहीताधरधुतशीर्षप्रघूर्णनशीलालकाकुलितम् ।
वदनं परिमलतरलितभ्रमरालिप्रकीर्णकमलमिव ॥]

चुम्बनार्थ अधर गृहीत हो जानेपर, शीर्षकम्पनके साथ एवं कुन्तलघूर्णनसे आकुलित उसका मुख स्मरण करता हूँ, मानो वह परिमलके लोभसे ताडित भ्रमरकुलद्वारा प्रकीर्ण एक कमलके समान दिखायी पड़ा था ॥ ७८ ॥

हलफलण्हाणपसाहिआणं छणवासरे सवत्तीणं ।
अज्जाएँ मज्जणाणाअरेण कहिअं व सोहग्गं ॥ ७९ ॥
[उत्साहतरलत्वस्नानप्रसाधितानां क्षणवासरे सपत्नीनाम् ।
आर्यया मज्जनानादरेण कथितमिव सौभाग्यम् ॥]

उत्सवके दिन उत्साहचाञ्चल्यमें स्नानद्वारा प्रसाधित सपत्नियोंके निकट केवल उस आर्याने ही मज्जनमें अनादर दिखाकर अपना सौभाग्य सूचित किया है ॥ ७९ ॥

ण्हाणहलिद्दाभरिअन्तराइँ आलाइँ आलवलअस्स ।
सोहन्ति किलिञ्चिअकण्टएण कं काहिसी कअत्थं ॥ ८० ॥
[स्नानहरिद्राभरितान्तराणि आलानि आलवलयस्य ।
शोधयन्ती क्षुद्रकण्टकेन कं करिष्यसि कृतार्थम् ॥]

स्नान-हरिद्रासे भरितान्तर तुम्हारा केशसम्मार्जनीके आलोंको क्षुद्र वंशकण्टक द्वारा शोधित कर तुम किस सौभाग्यवान्को कृतार्थ करोगी ॥ ८० ॥

अद्दंसणेण पेम्मं अवेइ अइदंसणेण वि अवेइ ।
पिसुणजणजम्पिएण वि अवेइ एमेअ वि अवेइ ॥ ८१ ॥
[अदर्शनेन प्रेमापैत्यतिदर्शनेनाप्यपैति ।
पिशुनजनजल्पितेनाप्यपैत्येवमेवाप्यपैति ॥]

प्रेम बिना देखे दूर हो जाता है, अत्यन्त देखनेपर भी दूर हो जाता है, खलों की कुवाणीसे भी दूर हो जाता है और अनायास भी दूर हो जाता है ॥ ८१ ॥

अइदंसणेण महिलाअणस्स अइदंसणेण णीअस्स ।
मुक्खस्स पिसुणअणजम्पिएण एमेअ वि खलस्स ॥ ८२ ॥
[अदर्शनेन महिलाजनस्यातिदर्शनेन नीचस्य ।
मूर्खस्य पिशुनजनजल्पितेनैवमेवापि खलस्य ॥]

महिलाओंका प्रेम बिना देखे, नीचोंका प्रेम अधिक देखे जानेपर, मूर्खोंका प्रेम दुष्टोंके वाक्य से एवं खलका प्रेम अकारण ही दूर हो जाता है ॥ ८२ ॥

पोट्टपडिएहिँ दुःखं अच्छिज्जइ उण्णएहिँ होऊण ।
इअ चिन्तआणं मण्णे थणाणं कसणं मुहं जाअं ॥ ८३ ॥
[उदरपतिताभ्यां दुःखं स्थीयत उन्नताभ्यां भूत्वा ।
इति चिन्तयतोर्मन्ये स्तनयोः कृष्णं मुखं जातम् ॥]

पहले उन्नत रहनेपर भी अनन्तर बरतने उदरपर्यन्त गिर जानेपर भी कष्टमें रहना होगा, ऐसा लगता है कि यही सोचकर दोनों स्तनोंका अगला भाग काला हो गया है ॥ ८३ ॥

सो तुज्झ कए सुन्दरि तह झीणो सुमहिला हलिअउत्तो ।
जह से मच्छरिणीएँ वि दोच्चं जाआएँ पडिवण्णं ॥ ८४ ॥
[स तव कृते सुन्दरि तथा क्षीणः सुमहिलो हालिकपुत्रः ।
यथा तस्य मत्सरिण्यापि दौत्यं जायया प्रतिपन्नम् ॥]

हे सुन्दरि, तुम्हारे लिए वह रूपवजायें हालिकपुत्र इतना क्षीण हो गया है कि उसकी भार्याने मत्सरिणी होनेपर भी उसके लिए स्वयं दूतीका कार्य करना स्वीकार किया है ॥ ८४ ॥

दक्खिण्णेण वि एन्तो सुहअ सुहावेसि अम्ह हिअआइं ।
णिक्कइअवेण जाणं गओसि का णिव्वुदी ताणं ॥ ८५ ॥
[दाक्षिण्येनाप्यागच्छन्सुभग सुखयस्यस्माकं हृदयानि ।
निष्कैतवेन यासां गतोऽसि का निर्वृतिस्तासाम् ॥]

हे सुभग, दाक्षिण्यवश हमलोगों के निकट उपस्थित होकर भी हमलोगों को इतना सुखी करते हो और जिनके निकट अकपट ही चले जाते हो उनको न जाने कितना आनन्द होता होगा ॥ ८५ ॥

एक्कं पहरुव्विण्णं हत्थं मुहमारुएण वीअन्तो।
सो वि हसन्तीए मए गहिओ वीएण कण्ठम्मि ॥ ८६ ॥
[एकं प्रहारोद्विग्नं हस्तं मुखमारुतेन वीजयन्।
सोऽपि हसन्त्या मया गृहीतो द्वितीयेन कण्ठे ॥]

प्रहारकार्यमें उद्विग्न मेरे एक हाथको मुखमारुतद्वारा वीजन किये जानेपर मैंने हँसते-हँसते दूसरे हाथ द्वारा उसका कण्ठग्रहण कर लिया ॥ ८६ ॥

अवलम्बिअमाणपरम्मुहीए एन्तस्स माणिणि पिअस्स।
पुट्ठपुलउग्गमो तुह कहेइ संमुहट्ठिअं हिअअं ॥ ८७ ॥
[अवलम्बितमानपराङ्मुख्या आगच्छतो मानिनि प्रियस्य।
पृष्ठपुलकोद्गमस्तव कथयति सम्मुखस्थितं हृदयम् ॥]

हे मानिनि, मान अवलंबन कर पराङ्मुखी होनेपर भी तुम अपने पीठपर रोमांचके उद्गमद्वारा आगमनकारी प्रियतमके निकट अपना हृदय सम्मुखस्थित रूपसे ही सूचित करती हो ॥ ८७ ॥

जाणइ जाणाविउं अणुणअविद्दविअमाणपरिसेसं।
अइरिक्कम्मि वि विणआवलम्बणं स च्चिअ कुणन्ती ॥ ८८ ॥
[जानाति ज्ञापयितुमनुनयविद्रावितमानपरिशेषम्।
विजनेऽपि विनयावलम्बनं सैव कुर्वती ॥]

एकान्तमें सुरतके समय विनयका अवलंबनकर प्रियतमके अनुनयसे दूरीकृत मानके परिशिष्टको स्थापित करना केवल वही जानती है ॥ ८८ ॥

मुहमारुएण तं कह्ण गोरअं राहिआए अवणेन्तो।
एताणं वल्लवीणं अण्णाण वि गोरअं हरसि ॥ ८९ ॥
[मुखमारुतेन त्वं कृष्ण गोरजो राधिकाया अपनयन्।
एतासां बल्लवीनामन्यासामपि गौरवं हरसि ॥]

हे कृष्ण, तुम अपने मुखमारुतद्वारा राधिकाके चक्षुसे धूलि अथवा गोधूलि हटाकर, पुरोवर्तिनी अन्यान्य गोपीगणोंका गौरव वा गोरजाहरण करते हो ॥८९॥

किं दाव कआ अहवा करेसि कारिस्सि सुहअ एत्ताहे।
अवराहाणं अलज्जिर साहसु कअए खमिज्जन्तु ॥ ९० ॥
[किं तावत्कृता अथवा करोषि करिष्यसि सुभगेदानीम्।
अपराधानामलज्जाशील कथय कतरे क्षम्यन्ताम् ॥]

हे सुभग, जिन अपराधोंको तुमने किया है, अभी कर रहे हो एवं आगे करोगे, हे निर्लज्ज, उनमेंसे किन अपराधोंको मैं क्षमा कर सकती हूँ, यह बताओ तो ॥

णूमेन्ति जे पहुत्तं कुविअं दासा व्व जे पसाअन्ति ।
ते व्विअ महिलाणँ पिआ सेसा सामि व्विअ वराआ ॥ ९१ ॥

*[गोपयन्ति ये प्रभुत्वं कुपितां दासा इव ये प्रसादयन्ति ।
त एव महिलानां प्रियाः शेषाः स्वामिन एव वराकाः ॥]*

जो पुरुष कान्ता विषयमें अपना प्रभुत्व गोपन कर रखते हैं एवं जो दासकी भाँति कुपित कान्ताको अनुनय द्वारा प्रसन्न रखते हैं, वे ही महिलाओंके प्रिय होते हैं, और इतर पुरुष निन्दय स्वामी शब्द द्वारा पुकारे जाते हैं ॥ ९१ ॥

तइआ कअग्घ महुअर ण रमसि अण्णासु पुप्फजाईसु ।
बद्धफलभारगुरुइं मालइं एह्णि परिच्चअसि ॥ ९२ ॥

*[तदा कृतार्घ मधुकर न रमसेऽन्यासु पुष्पजातिषु ।
बद्धफलभारगुर्वीं मालतीमिदानीं परित्यजसि ॥]*

हे मधुकर, उस समय कृतज्ञ होकर अथवा मालतीके प्रति आदरवश तुम अन्यान्य पुष्पोंमें अनुरक्त नहीं हुए। अब बद्धफलभारसे विनत मालतीका परित्याग कर रहे हो ॥ ९२ ॥

अविअह्णपेच्छणिज्जेण तक्खणं मामि तेण दिट्ठेण ।
सिविणअपीएण व पाणिएण तण्ह व्विअ ण फिट्टा ॥ ९३ ॥

*[अवितृष्णप्रेक्षणीयेन तत्क्षणं मातुलानि तेन दृष्टेन ।
स्वप्नपीतेनेव पानीयेन तृष्णैव न भ्रष्टा ॥]*

हे मामी, स्वप्नमें पीये हुए जल द्वारा प्यासके मिटनेकी भाँति, अप्रसन्नपनसे उसे देखनेकी मेरी प्यास दूर नहीं हुई है ॥ ९३ ॥

सुअणो जं देसमलंकरेइ तं विअ करेइ पवसन्तो ।
गामासण्णुम्मूलिअमहावडट्ठाणसारिच्छं ॥ ९४ ॥

*[सुजनो यं देशमलंकरोति तमेव करोति प्रवसन् ।
ग्रामासन्नोन्मूलितमहावटस्थानसदृशम् ॥]*

अच्छे व्यक्ति जिस देशको अपने निवास द्वारा अलंकृत करते हैं उसी देशसे

प्रवसार्थ जाकर वे ही मामासय उन्मूलित महावटवृक्षस्थानकी भाँति वसे दुःखदायक कर डालते हैं ॥ ९४ ॥

सो णाम संभरिज्जइ पब्भसिओ जो खणं पि हिअआहि ।
संभरिअव्वं च कअं गअं च पेम्मं णिरालम्बं ॥ ९५ ॥

[स नाम संस्मर्यते प्रभ्रष्टो यः क्षणमपि हृदयात् ।
स्मर्तव्यं च कृतं गतं च प्रेम निरालम्बम् ॥]

स्मरण करनेकी बात उसके ही विषयमें उठती है, क्षणभरके लिए भी हृदयसे जिसके निकल जानेकी सम्भावना है। जिस क्षण प्रेम स्मरणयोग्य हो जाता है, उसी क्षण वह आलम्बनशून्य हो जाता है ॥ ९५ ॥

णासं व सा कवोले अज्ज वि तुह दन्तमण्डलं बाला ।
उब्भिण्णपुलअवइवेढपरिगअं रक्खइ वराई ॥ ९६ ॥

[न्यासमिव सा कपोलेऽद्यापि तव दन्तमण्डलं बाला ।
उद्भिन्नपुलकवृतिवेष्टपरिगतं रक्षति वराकी ॥]

वह दीना बाला आजतक अपने कपोलपर तुम्हारे द्वारा किये हुए मण्डलाकृति दन्तक्षतको न्यासके रूपमें सम्हालकर रखे हुए है, जैसेकि वह धनस्थान चतुर्दिक् में विकसित रोमांचवृति वेष्ठा द्वारा वेष्टित है ॥ ९६ ॥

दिट्ठा चूआ अग्घाइआ सुरा दक्खिणाणिलो सहिओ ।
कज्जाइं व्विअ गरुआइँ मामि को वल्लहो कस्स ॥ ९७ ॥

[दृष्टाश्चूता आघ्राता सुरा दक्षिणानिलः सोढः ।
कार्याण्येव गुरुकाणि मातुलानि को वल्लभः कस्य ॥]

आम्रांकुर देखा गया है, सुरा पीयी गयी है एवं दक्षिणपवनको भी सहन किया गया है। उसका अर्थात् नायकका कार्यसमूह ही गुरुतर प्रतीत होता है, अतः हे मामी, कौन किसका प्रिय है ॥ ९७ ॥

रमिऊण पअं पि गओ जाहे उवऊहिउं पडिणिउत्तो ।
अहअं पउत्थपइअ व्व तक्खणं सो पवासि व्व ॥ ९८ ॥

[रन्त्वा पदमपि गतो यदोपगूहितुं प्रतिनिवृत्तः ।
अहं प्रोषितपतिकेव तत्क्षणं स प्रवासीव ॥]

रमणके उपरान्त वह एक पग भी चलकर जब आलिंगनके लिए प्रतिनिवृत्त होता है, तब मैं अपनेको प्रोषितपतिका एवं उसको प्रवासी समझती हूँ ॥ ९८ ॥

अविरहपेच्छणिज्जं समसुहदुक्खं विइण्णसब्भावं ।
अण्णोण्णहिअअलग्गं पुण्णेहिँ जणो जणं लहइ ॥ ९९ ॥

[अवितृष्णप्रेक्षणीयं समसुखदुःखं वितीर्णसद्भावम् ।
अन्योन्यहृदयलग्नं पुण्यैर्जनो जनं लभते ॥]

जो पुरुष प्यासे नयनोंसे दर्शनीय, सुखदुःखके समय सद्भाववितरणमें समर्थ एवं परस्परके हृदयोंमें लग्न होने योग्य है, ऐसे पुरुषको कोई भी बड़े भाग्यसे ही पाती है ॥ ९९ ॥

दुक्खं देन्तो वि सुहं जणेइ जो जस्स वल्लहो होइ ।
दइअणहदूमिआणं वि वड्ढइ थणाणँ रोमञ्चो ॥ १०० ॥

[दुःखं ददद् अपि सुखं जनयति यो यस्य वल्लभो भवति ।
दयितनखदूनयोरपि वर्धते स्तनयो रोमाञ्चः ॥]

जो जिसका प्रिय है, वह दुःख दिये जानेपर भी सुख उत्पन्न करता है। प्रियके नखद्वारा क्षित स्तनद्वय भी रोमांचमें फूल जाते हैं ॥ १०० ॥

रसिअजणहिअअदइए कइवच्छलपमुहसुकइणिम्मविए ।
सत्तसअम्मि समत्तं पढमं गाहासअं एअं ॥ १०१ ॥

[रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखसुकविनिर्मिते ।
सप्तशतके समाप्तं प्रथमं गाथाशतकमेतत् ॥]

कविवत्सलप्रमुखसुकविरचित, रसिकोंके हृदयहार सप्तशतीमें यह प्रथम गाथाशतक समाप्त हुआ ॥ १०१ ॥

द्वितीय शतक

घरिओ घरिओ विअलइ उअएसो पिअसहीहिँ दिज्जन्तो ।
मअरद्धअबाणपहारजज्जरे तीएँ हिअअम्मि ॥ १ ॥

[धृतो धृतो विगलत्युपदेशः प्रियसखीभिर्दीयमानः ।
मकरध्वजबाणप्रहारजर्जरे तस्या हृदये ॥]

कामदेवके बाण प्रहारसे जर्जरित उसके हृदयमें प्रियसखियोंद्वारा दीयमान मान करनेका उपदेश बारबार ग्रहण करने पर भी विगलित हो जाता है ॥ १ ॥

तडसंठिअणीडेक्कन्तपीलुआरक्खणेक्कदिण्णमणा ।
अगणिअविणिवाअभआ पूरेण समं वहइ काई ॥ २ ॥

[तटसंस्थितनीडैकान्तशावकरक्षणैकदत्तमना ।
अगणितविनिपातभया पूरेण समं वहति काकी ॥]

तटस्थित नीडमें वर्तमान शावककुलके रक्षणमें एकान्त मनोनिवेशकारिणी काकी तट तरुके भज्यमानता अपने गिरनेके भयको न गिनकर जलप्रवाहके साथ बहती जा रही है ॥ २ ॥

बहुपुप्फभरोणामिअभूमीगअसाह सुणसु विण्णत्तिं ।
गोलातडविअडकुडङ्ग महुअ सणिअं गलिज्जासु ॥ ३ ॥

[बहुपुष्पभरावनामितभूमीगतशाख शृणु विज्ञप्तिम् ।
गोदातटविकटनिकुञ्जमधूक शनैर्गलिष्यसि ॥]

हे गोदावरीके तटस्थ विकटनिकुञ्जस्थित मधूकवृक्ष, तुम्हारी शाखाएँ अनेक पुष्पोंके भारसे पृथ्वीपर्यन्त झुक गयी हैं, तुम मेरी विज्ञप्ति सुन लो—तुमको धीरे धीरे विगलितपुष्प होना पड़ेगा ॥ ३ ॥

णिप्पच्छिमाइँ असई दुःखालोआइँ महुअपुप्फाइं ।
चीए बन्धुस्स व अट्ठिआइँ रुअई समुच्चिणइ ॥ ४ ॥

[निष्पश्चिमान्यसती दुःखालोकानि मधूकपुष्पाणि ।
चितायां बन्धोरिवास्थीनि रोदनशीला समुच्चिनोति ॥]

असती चितामें अवस्थित बन्धुओंके सर्वपरिशिष्ट अस्थिसमूहकी नाईं दुःखावलोकित सर्वपरिशिष्ट मधूक पुष्पसमूह रोदन करते-करते चयन कर रही है ॥ ४ ॥

ओ हिअअ मडहसरिआजलरअहीरन्तदीहदारु व्व ।
ठाणे ठाणे च्चिअ लग्गमाण केणावि डज्झिहसि ॥ ५ ॥
[हे हृदय स्वल्पसरिज्जलरयह्रियमाणदीर्घदारुवत् ।
स्थाने स्थाने एव लगत्केनापि धक्ष्यसे ॥]

हे हृदय, स्वल्पतोया नदीके जलके वेगमें खिंचते हुए दीर्घ काठकी भाँति जगह जगह ठोकर खानेपर भी किसीके द्वारा तुम दग्ध होओगे ॥ ५ ॥

जो तीएँ अहरराओ रत्तिं उव्वासिओ पिअअमेण ।
सो च्चिअ दीसइ गोसे सवत्तिणअणेसु संकन्तो ॥ ६ ॥
[यस्तस्या अधररागो रात्रावुद्वासित प्रियतमेन ।
स एव दृश्यते प्रातः सपत्नीनयनेषु सङ्क्रान्तः ॥]

उसका जो अधरराग रातमें प्रियतमद्वारा निरन्तर अधरपानवश पोंछ डाला गया है, वही रक्तिमा प्रातःकाल होनेपर सपत्नियोंके नेत्रोंमें सङ्क्रान्त देखी जाती है ॥ ६ ॥

गोलाअडट्ठिअं पेच्छिऊण गहवइसुअं हलिअसोण्हा ।
आढत्ता उत्तरिउं दुक्खुत्ताराएँ पअवीए ॥ ७ ॥
[गोदावरीतटस्थित प्रेक्ष्य गृहपतिसुत हलिकस्नुषा ।
आरब्धा उत्तरीतु दुःखोत्तारया पदव्या ॥]

हालिककी पुत्रवधूने गृहपतिपुत्र अर्थात् अपने कान्तको गोदावरीतटपर खड़ा हुआ देखकर अत्यन्त कष्टसे उत्तरीमार्गसे अवतरण करना प्रारम्भ किया ॥

चलणोआसणिसण्णस्स तस्स भरिमो अणालवन्तस्स ।
पाअङ्गुट्ठावेट्ठिअकेसदिढाअड्ढणसुहेल्लिं ॥ ८ ॥
[चरणावकाशनिषण्णस्य तस्य स्मरामोऽनालपत ।
पादाङ्गुष्ठावेष्टितकेशदृढाकर्षणसुखम् ॥]

मेरे चरणोंमें चुपचाप बैठे हुए एवं भयसे निर्वाक् उसके मनमें मेरे पादांगुष्ठद्वारा आवेष्टित उसके केशगुच्छके दृढ़ आकर्षणसे जो सुख उत्पन्न हुआ था, वही मुझे याद आ रहा है ॥ ८ ॥

फालेइ अच्छभल्लं व उअह कुग्गामदेउलद्दारे।
हेमन्तआलपहिओ विज्झाअन्तं पलालग्गिं ॥ ९ ॥
[पाटयत्यच्छभल्लमिव पश्यत कुग्रामदेवकुलद्वारे।
हेमन्तकालपथिको विध्मायमान पलालाग्निम् ॥]

तुम लोग देखो, बुरे ग्रामके मन्दिर द्वारपर हेमन्तकालीन पथिक निर्वाण-प्राय पलालाग्निको भालूकी भाँति फाड़ रहा है ॥ ९ ॥

कमलाअरा ण मलिआ हंसा उड्डाविआ ण अ पिउच्छा।
केणावि गामतडाए अब्भं उत्ताणअं छूढं ॥ १० ॥
[कमलाकरा न मृदिता हंसा उड्डायिता न च पितृष्वसः।
केनापि ग्रामतडागे अभ्रमुत्तानितं क्षिप्तम् ॥]

हे बुआ, नहीं जानता गाँवकी तलैयामें आकाशको तानकर किसने गिरा दिया है, तथापि वहाँपर कमलकुल उपमर्दित नहीं हुआ है, हंस भी वहाँसे उड़ नहीं गये हैं ॥ १० ॥

केण मणे भग्गमणोरहेण संलाविअं पवासो त्ति।
सविसाइं व अलसाअन्ति जेण बहुआएँ अङ्गाइं ॥ ११ ॥
[केन मन्ये भग्नमनोरथेन संलापितं प्रवास इति।
सविषाणीवालसायन्ते येन वध्वा अङ्गानि ॥]

ऐसा प्रतीत होता है, जैसे किसीने भग्नमनोरथ होकर प्रवासगमनके सम्बंधमें बात किया है। इसी कारण, वधूके अंग-प्रत्यंगोंने जैसे विषदग्ध होनेसे कार्यपटुताको छोड़ दिया है ॥ ११ ॥

अज्जवि वालो दामोअरो त्ति इअ जम्पिए जसोआए।
कह्णमुहपेसिअच्छं णिहुअं हसिअं वअवहूहिं ॥ १२ ॥
[अद्यापि बालो दामोदर इति इति जल्पिते यशोदया।
कृष्णमुखप्रेषिताक्षं निभृतं हसितं व्रजवधूभिः ॥]

आजतक दामोदरका मेरे निकट बचपन ही रह गया है, यशोदाके ऐसा कहनेपर व्रजवधूटियाँ कृष्णके मुखकी ओर आँख फिराकर गोपनभावसे हँसीं ॥ १२॥

ते विरला सप्पुरिसा जाण सिणेहो अहिण्णमुहराओ।
अणुदिअहं वड्ढमाणो रिणं व पुत्तेसु संकमइ ॥ १३ ॥

[ते विरलाः सत्पुरुषा येषां स्नेहोऽभिन्न मुखरागः ।
अनुदिवसवर्धमान ऋणमिव पुत्रेषु संक्रामति ॥]

वे सत्पुरुष विरले ही हैं जिनका अमन्दीभूत मुखरागयुक्त स्नेह प्रतिदिन सवर्द्धित होकर पितृ ऋणकी भाँति पुत्रोंमें भी सङ्क्रान्त होता है ॥ १३ ॥

पच्चणसलाहणणिहेण पासपरिसंठिआ णिउणगोवी ।
सरिसगोविआणं चुम्बइ कवोलपडिमागअं कण्हं ॥ १४ ॥

[नर्तनश्लाघननिभेन पार्श्वपरिसंस्थिता निपुणगोपी ।
सदृशगोपीनां चुम्बति कपोलप्रतिमागतं कृष्णम् ॥]

पासमें खड़ी हुई निपुण गोपी नृत्यश्लाघाके बहाने अनुराग सदृश अपनी जैसी गोपियोंके कपोलपर प्रतिबिम्बित कृष्णकी प्रतिमाको अलक्षितभावसे चूम रही है ॥ १४ ॥

सव्वत्थ दिसामुहपसरिएहिँ अण्णोण्णकडअलग्गेहिँ ।
छल्लिं व्व मुअइ विञ्झो मेहेहिँ विसंघडन्तेहिं ॥ १५ ॥

[सर्वत्र दिशामुखप्रसृतैरन्योन्यकटकलग्नैः ।
छल्लीमिव मुञ्चति विन्ध्यो मेघैर्विसंघटमानैः ॥]

पर्वतके प्रतिबिम्बमें लग्न, बादमें विघटमान होकर सारी दिशाओंमें फैले हुए मेघसमूहको देखनेपर ऐसा प्रतीत होता है मानो विन्ध्यपर्वत अपने शरीरसे झिल्ली छोड़ रहा है ॥ १५ ॥

आलोअन्ति पुलिन्दा पव्वअसिहरट्ठिआ धणुणिसण्णा ।
हत्थिउलेहिँ व विञ्झं पूरिज्जन्तं णवब्भेहिं ॥ १६ ॥

[आलोकयन्ति पुलिन्दाः पर्वतशिखरस्थिता धनुर्निषण्णाः ।
हस्तिकुलैरिव विन्ध्यं पूर्यमाणं नवाभ्रैः ॥]

पर्वतके शिखर पर धनुष लेकर बैठे हुए पुलिन्दगण विन्ध्य पर्वतको हस्तिकुल सदृश कृष्णवर्ण नव मेघमाला द्वारा परिपूर्यमाण देखते हैं ॥ १६ ॥

घणदवमसिमइलङ्गो रेहइ विञ्झो घणेहिँ धवलेहिं ।
खीरोअमन्थणुच्छलिअदुद्धसित्तो व्व महुमहणो ॥ १७ ॥

[घनदवमषीमलिनाङ्गो राजते विन्ध्यो घनैर्धवलैः ।
क्षीरोदमथनोच्छलितदुग्धसिक्त इव मधुमथनः ॥]

द्वारा आवृत होकर, क्षीरसागरके मथनमें उछाले हुए दुग्ध द्वारा सिक्त मधुमथनविष्णुकी भाँति शोभा पा रहा है ॥ १७ ॥

वन्दीअ णिहअबन्धवविमणाइ वि पक्कलो त्ति चोरजुआ ।
अणुराएण पलोइओ, गुणेसु को मच्छरं वहइ ॥ १८ ॥
[वन्द्या निहतबान्धवविमनस्कयापि प्रवीर इति चोरयुवा ।
अनुरागेण प्रलोकितो गुणेषु को मत्सरं वहति ॥]

बान्धवोंके मारे जाने पर विमनस्का बन्दिनी युवती चोर युवकको शौर्यादि-गुण सम्पन्न प्रवीर समझकर अनुरागसे देख रही थी—गुणवैभव देखने पर मात्सर्य प्रदर्शन कौन करता है ॥

अज्ज कइमो वि दिअहो वाहवहू रूवजोव्वणुम्मत्ता ।
सोहग्गं धणुरुअच्छलेण रच्छासु विक्किरइ ॥ १९ ॥
[अद्य कतमोऽपि दिवसो व्याधवधू रूपयौवनोन्मत्ता ।
सौभाग्य धनुस्त्वक्छलेन रथ्यासु विकिरति ॥]

आज कितने दिन हो गए, रूप एवं यौवनमें उन्मत्त व्याधवधू धनुके सूक्ष्म-त्वक्के निक्षेपके बहाने अपने सौभाग्यको रथ्यापर निक्षेप कर रही है ॥ १९ ॥

उव्विप्पइ मण्डलिमारुएण गेहङ्गणाहि वाहीए ।
सोहग्गधअवडाअ व्व उअह धणुरुअपरिञ्छोली ॥ २० ॥
[उत्क्षिप्यते मण्डलीमारुतेन गेहाङ्गणाद्व्याधवध्वाः ।
सौभाग्यध्वजपताकेव पश्यत धनुः सूक्ष्मत्वक्पङ्क्तिः ॥]

व्याधवधूके गृहाङ्गणसे अपने सौभाग्यके ध्वजपताकारूपिणी धनुकी सूक्ष्म-त्वक्पंक्ति मण्डलवायुद्वारा उड़ायी जा रही है—देखो ॥ २० ॥

गअगण्डत्थलणिहसणमअमइलीकअकरञ्जसाहाहि ।
पत्तीअ कुलहराओ णाअं वाहीअ पइमरणं ॥ २१ ॥
[गजगण्डस्थलनिघर्षणमदमलिनीकृतकरञ्जशाखाभिः ।
आगच्छन्त्या कुलगृहाज्ज्ञातं व्याधस्त्रिया पतिमरणम् ॥]

पिताके घरसे लौटकर व्याधवधूने हाथीके गण्डस्थलके घर्षणसे उत्पन्न मदद्वारा मलिनीकृत करञ्ज शाखासमूहको देखकर अपने पतिके मृत्युको समझा था ॥

णववहुपेम्मतणुइओ पणअं पढमघरिणीअ रक्खन्तो ।
आलिहिअदुप्परिल्लं पि णेइ रण्णं धणुं वाहो ॥ २२ ॥

[नववधूप्रेमतनूकृत प्रणय प्रथमगृहिण्या रक्षन् ।
तनूकृतदुराकर्षमपि मन्यत्वस्य धनुर्व्याध ॥]

नववधूके प्रेममें अत्यन्त कृशतनु होनेपर भी व्याध प्रथमगृहिणीके प्रणयकी रक्षाकरनेके निमित्त तनुकृत एव दुराकर्ष धनुषको अरण्यमें वहन कर लेता है ॥ २२ ॥

हासाविओ जणो सामलीअ पढमं पसूअमाणाए ।
वल्लहवापण अलं मम त्ति बहुसो भणन्तीए ॥ २३ ॥
[हासितो जन श्यामया प्रथम प्रसूयमानया ।
वल्लभवादेनालं ममेति बहुशो भणन्त्या ॥]

प्रियतमकी बातोंसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं, अनेकबार ऐसा कहकर प्रथमप्रसवकारिणी श्यामलाने सबको हँसाया है ॥ २३ ॥

कइअवरहिअं पेम्मं ण त्थि व्विअ मामि माणुसे लोए ।
अह होइ कस्स विरहो विरहे होन्तम्मि को जिअइ ॥ २४ ॥
[कैतवरहित प्रेम नास्त्येव मातुलानि मानुषे लोके ।
अथ भवति कस्य विरहो विरहे भवति को जीवति ॥]

हे मामी, मानवजगतमें कपटताशून्य प्रेम बिल्कुल एकदम नहीं है—यदि ऐसा होता तो क्या किसीको विरह होता ? विरह होनेपर भी क्या कोई जीवित रहता ॥ २४ ॥

अच्छेरं व णिहिं विअ सग्गे रज्जं व अमअपाणं व ।
आसि म्ह तं मुहुत्तं विणिअंसणदंसणं तीए ॥ २५ ॥
[आश्चर्यमिव निधिमिव स्वर्गे राज्यमिवामृतपानमिव ।
आसीदस्माक तन्मुहूर्तं विनिवसनदर्शनं तस्या ॥]

विवस्त्रावस्थामें उसका दर्शन मुझे उसी क्षण अद्भुतरूप, निधिप्राप्तिरूप, स्वर्गराज्यलाभरूप यहाँतक कि अमृतपानरूप प्रतीयमान हुआ था ॥ २५ ॥

सा तुज्झ वल्लहा तं सि मज्झ वेसो सि तीअ तुज्झ अहं ।
बालअ फुडं भणामो पेम्मं किर बहुविआरं त्ति ॥ २६ ॥
[सा तव वल्लभा त्वमसि मम द्वेष्योऽसि तस्यास्तवाहम् ।
बालक स्फुट भणाम प्रेम किल बहुविकारमिति ॥]

वह अन्य रमणी तुम्हारी प्रिया है, तुम हमारे प्रिय हो, तुम उसके द्वेष्य हो

एवं मैं तुम्हारी द्वेष्य हूँ—हे बालक, स्पष्टतः कहती हूँ कि प्रेम अनेक प्रकारोंसे विकार युक्त होता है ॥ २६ ॥

अहअं लज्जालुइणी तस्स अ उम्मच्छराइँ पेम्माइं।
सहिआअणो वि णिउणो अलाहि किं पाअराएण ॥ २७ ॥
[अहं लज्जालुस्तस्य चोन्मत्सराणि प्रेमाणि ।
सखीजनोऽपि निपुणोऽपास्व किं पादरागेण ॥]

मैं स्वयं लज्जाशीला हूँ, उसका प्रेम भी अत्यंत उत्कट है एवं सखियाँ भी प्रेमाविष्कारमें अत्यन्त निपुण हैं। अतः निषेध करती हूँ, पादरागप्रयोगकी आवश्यकता नहीं है ॥ २७ ॥

महुमाससमारुआहअमहुअरझंकारणिब्भरे रण्णे।
गाअइ विरहक्खरोबद्धपहिअमणमोहणं गोवी ॥ २८ ॥
[मधुमासमारुताहतमधुकरझंकारनिर्भरेऽरण्ये ।
गायति विरहाक्षरावद्धपथिकमनोमोहनं गोपी ॥]

वसन्त-वायुसे आहत हो भौंरे अरण्यको झंकारसे परिपूर्णकररहे हैं। वहाँ उनके साथ साथ गोपी भी विरहाक्षरयुक्तपदद्वारा आहृत पथिकोंके मन-मुग्धकर गान गा रही है ॥ २८ ॥

तह माणो माणधणाएँ तीअ एमेअ दूरमणुबद्धो।
जह से अणुणीअ पिओ एक्कग्गाम व्विअ पउत्थो ॥ २९ ॥
[तथा मानो मानधनया तया एवमेव दूरमनुबद्धः ।
यथा तस्या अनुनीय प्रिय एकग्राम एव प्रोषितः ॥]

मानधना उस प्रियाका मान इतनी दूरतक अनुबद्ध हुआ है कि उसका प्रिय उसका अनुनय करनेके उपरान्त एक ही गाँव में प्रवासीकी भाँति होगया है ॥ २९ ॥

सालोएँ व्विअ सूरे घरिणी घरसामिअस्स घेत्तूण।
णेच्छन्तस्स वि पाए धुअइ हसन्ती हसन्तस्स ॥ ३० ॥
[सालोक एव सूर्ये गृहिणी गृहस्वामिनो गृहीत्वा ।
अनिच्छतोऽपि पादौ धावति हसन्ती हसतः ॥]

सूर्यका आलोक रहते ही गृहिणी हँसमुख होकर हँसते-हँसते अनिच्छुक गृहस्वामीके दोनों चरणोंको धो डाल रही है ॥ ३० ॥

वाहरउ म सहीओ तिस्सा गोत्तेण किं त्थ भणिएण ।
थिरपेम्मा होउ जहिं तहिं पि मा किं पि ण भणह ॥ ३१ ॥
[व्याहरतु मां सख्यस्तस्या गोत्रेण किमत्र भणितेन ।
स्थिरप्रेमा भवतु यत्र तत्रापि मा किमपि भणत ॥]

अरी सखियो, उस (सपत्नी) के नामद्वारा मुझे पुकारता है तो पुकारने दो, उससे इसरूप पुकारेजानेपर मेरी क्या क्षति ? जिसकिसके प्रति वह स्थिरप्रेमा हो—तुमलोग उससे कुछ कहना मत ॥ ३१ ॥

रूअं अच्छीसु ठिअं फरिसो अङ्गेसु जम्पिअं कण्णे ।
हिअअं हिअए णिहिअं विओइअं किं त्थ देव्वेण ॥ ३२ ॥
[रूपमक्ष्णोः स्थितं स्पर्शोऽङ्गेषु जल्पितं कर्णे ।
हृदयं हृदये निहितं वियोजितं किमत्र दैवेन ॥]

दैव क्या हमारे नयनद्वयमें स्थित प्रियका रूप, अङ्गोंमें स्थित उसका स्पर्श, कानोंमें निहित उसकी बातें एवं हृदयमें निहित उसके हृदय इन सबको मेरी भावनासे वियोजित करनेमें समर्थ होगा ? ॥

सअणे चिन्तामइअं काऊण पिअं णिमीलिअच्छीए ।
अप्पाणो उवऊढो पसिढिलवलआहिँ बाहाहिं ॥ ३३ ॥
[शयने चिन्तामयं कृत्वा प्रियं निमीलिताक्ष्या ।
आत्मा उपगूढः प्रशिथिलवलयाभ्यां बाहुभ्याम् ॥]

नेत्र निमीलितकर शय्याकेऊपर वह कामिनी अपनेप्रियको चिन्तामग्नकर प्रशिथिल वलययुक्त बाहुद्वयद्वारा अपना ही आलिंगन कर रही है ॥ ३३ ॥

परिहूएण वि दिअहं घरघरभमिरेण अण्णकज्जम्मि ।
चिरजीविएण इमिणा खविअम्हो दड्ढकाएण ॥ ३४ ॥
[परिभूतेनापि दिवसं गृहगृहभ्रमणशीलेनान्यकार्ये ।
चिरजीवितेनानेन क्षपिता स्मो दग्धकायेन ॥]

दूसरेका कार्य साधनेकेलिए सारेदिन एकघरसे दूसरे घर आ जाकर अपमानसेवी दग्धकाककी भाँति परामृत अपनी इस वृद्ध दग्धदेहद्वारा मैं उद्वेजित हो गयी हूँ ॥ ३४ ॥

रुअइ जहिँ चेअ सहो गोसिज्जन्तो सिणेहदूणोइँ ।
तं चेअ आलअं दीअओ व्व अइरेण मइलेइ ॥ ३५ ॥

[वसति यत्रैव खलः पोष्यमाणः स्नेहदानैः ।
तमेवालयं दीपक इवाचिरेण मलिनयति ॥]

जिस घरमें स्नेहदानद्वारा खलजन संवर्द्धित होते हैं, स्नेहदानद्वारा पोषित दीपककी भाँति वे उसी घरको शीघ्र ही मलिन बनादेते हैं ॥ ३५ ॥

होन्ती वि णिप्फलच्चिअ धणरिद्धी होइ किविणपुरिसस्स ।
गिम्हाअवसंतत्तस्स णिअअच्छाहि व्व पहिअस्स ॥ ३६ ॥

[भवन्त्यपि निष्फलैव धनऋद्धिर्भवति कृपणपुरुषस्य ।
ग्रीष्मातपसंतप्तस्य निजकच्छायेव पथिकस्य ॥]

कृपणकी प्रभूत धनवृद्धि होनेपर भी वह ग्रीष्मके आतप से संतप्त पथिकके लिए अपनी छायाकेसमान निष्फल सिद्ध होती है ॥ ३६ ॥

फुरिए वामच्छि तुए जइ एहिइ सो पिओ ज्ज ता सुइरं ।
संमीलिअ दाहिणअं तुइ अवि एहं पलोइस्सं ॥ ३७ ॥

[स्फुरिते वामाक्षि त्वयि यद्येष्यति स प्रियोऽद्य तत्सुचिरम् ।
संमील्य दक्षिणं त्वयैवैतं प्रेक्षिष्ये ॥]

हे बायें नेत्र, तुम्हारे स्फुरित होनेसे यदि वह प्रिय आजही आजाय तो मैं अपनी दायीं नेत्रको मूँदकर केवल तुमसे बहुतदेरतक उसे देखूँगी ॥३७॥

सुणअपउरम्मि गामे हिण्डन्ती तुह कएण सा बाला ।
पासअसारिव्व घरं घरेण कइआ वि खज्जिहिइ ॥ ३८ ॥

[शुनकप्रचुरे ग्रामे हिण्डमाना तव कृतेन सा बाला ।
पाशकशारीव गृहं गृहेण कदापि खादिष्यते ॥]

कुक्कुरबहुलग्राममें वह बाला तुम्हारेलिए इस घरसे उस घर जाते-आते कभी न कभी पासाकी गोटी अथवा पासमेंआकर सारिकापक्षीकीभाँति खा डाली जायगी ॥ ३८ ॥

अण्णण्णं कुसुमरसं जं किर सो महइ महुअरो पाउं ।
तं णीरसाणँ दोसो कुसुमाणं णेअ भमरस्स ॥ ३९ ॥

[अन्यमन्यं कुसुमरसं यत्किल स इच्छति मधुकरः पातुम् ।
तन्नीरसानां दोषः कुसुमानां नैव भ्रमरस्य ॥]

वह मधुकर जो अन्यान्य पुष्पोंसे रस चूसनेकी इच्छा करता है, इसमें रसशून्य पुष्पोंका ही दोष है, मधुकरका किसीप्रकार दोष नहीं है ॥ ३९ ॥

रत्थापइण्णणअणुप्पला तुमं सा पडिच्छए एन्तं।
दारणिहिएहिँ दोहिँ वि मङ्गलकलसेहिँ व थणेहिं ॥ ४० ॥
[रथ्याप्रकीर्णनयनोत्पला त्वां सा प्रतीक्षते आयान्तम्।
द्वारनिहिताभ्यां द्वाभ्यामपि मङ्गलकलशाभ्यामिव स्तनाभ्याम् ॥]

राजपथकीओर नयनपद्मको विस्तारित रखकरभी यह रमणी अपने कुचद्वयको मङ्गलकलशद्वयकी भाँति द्वारपर निहितकर तुम्हारे आगमनकी प्रतीक्षा कर रही है ॥ ४० ॥

ता रुण्णं जा रुव्वइ ता झीणं जाव झिज्जए अङ्गं।
ता णीससिअं वराइअ जाव अ सासा पहुप्पन्ति ॥ ४१ ॥
[तावद्रुदितं यावद्रुद्यते तावत्क्षीणं यावत्क्षीयतेऽङ्गम्।
तावन्निःश्वसितं वराक्या यावत् [च] श्वासाः प्रभवन्ति ॥]

जितनीदेर रोया जासकता है उतनीदेर अभागिन रोयी है, जितना क्षीण हुआ जा सकता है उसके अङ्ग उतने क्षीण हुए हैं एवं जितनीदेर साँस तेजीसे चल सकती है उतनीदेर उसने उच्छ्वास लिया है ॥ ४१ ॥

समसोक्खदुक्खपरिवड्ढिआणँ कालेण रूढपेम्माणं।
मिहुणाणँ मरइ जं तं खु जिअइ इअरं मुअं होइ ॥ ४२ ॥
[समसौख्यदुःखपरिवर्धितयोः कालेन रूढप्रेम्णोः।
मिथुनयोर्म्रियते यत्तत्खलु जीवति इतरन्मृतं भवति ॥]

सुख एवं दुःखमें समानभावसे परिवर्द्धितहोकर कालान्तरमें दृढ़प्रेममें आबद्ध दम्पतिमेंसे जो एक मर जाता है, वस्तुतः वही जी जाता है एवं दूसरे व्यक्तियोंद्वारा मृत गिना जाता है ॥ ४२ ॥

हरिहिइ पिअस्स णवचूअपल्लवो पढममञ्जरिसणाहो।
मा रुवसु पुत्ति पत्थाणकलसमुहसंठिओ गमणं ॥ ४३ ॥
[हरिष्यति प्रियस्य नवचूतपल्लवः प्रथममञ्जरीसनाथः।
मा रोदीः पुत्रि प्रस्थानकलशमुखसंस्थितो गमनम् ॥]

हे पुत्रि, प्रस्थानमङ्गलकलशकेऊपर संस्थित प्रथम मञ्जरीयुक्त नवआम्र पल्लव ही प्रियजनके गमनका हरण अथवा निवारण करेगा, अतः तुम रोना मत ॥ ४३ ॥

जो कहँ वि मह सहीहिं छिद्दं लहिऊण पेसिओ हिअए।
सो माणो चोरिअकामुअ व्व दिट्ठे पिए णट्ठो ॥ ४४ ॥

[प्र० कथमपि मम सखीभिश्छिद्रं लब्ध्वा प्रवेशितो हृदये ।
स मानश्चोरकामुक इव दृष्टे प्रिये नष्टः ॥]

प्रणयकलहरूप छिद्र देखकर सखियोंने मेरे हृदयमें जो मान प्रविष्ट करा दिया है, वह मान प्रियवरको देखते ही चोर कामुककी भाँति भाग गया है ॥ ४४ ॥

सहिआहिँ भण्णमाणा थणए लग्गं कुसुम्भपुप्फं त्ति ।
मुद्धवहुआ हसिज्जइ पप्फोडन्ती णहवआइं ॥ ४५ ॥

[सखीभिर्भण्यमाना स्तने लग्नं कुसुम्भपुष्पमिति ।
मुग्धवधूर्हस्यते प्रस्फोटयन्ती नखपदानि ॥]

स्तनमें क्या कुसुम्भ कुसुम लगा हुआ है?—सखियों द्वारा ऐसा पूछा जाने पर मुग्धवधूने स्तनपरसे नखचिह्नको हटानेकी चेष्टाकी जिससे सखियाँ हँस पड़ीं ॥ ४५ ॥

उम्मूलेन्ति व हिअअं इमाइँ रे तुह विरज्जमाणस्स ।
अवहीरणाधसविसंठुलवलन्तणअणद्धदिट्ठाइं ॥ ४६ ॥

[उन्मूलयन्तीव हृदयं इमानि रे तव विरज्यमानस्य ।
अवधीरणवशविसंष्ठुलवलन्नयनार्धदृष्टानि ॥]

अरे तुम्हारे मेरेप्रति विमुख होनेपर तुम्हारी उपेक्षावश लक्ष्यविहीन हो परावर्तनशील नयनार्धदृष्टि मेरे हृदयको उन्मूलित कर रही है ॥ ४६ ॥

ण मुअन्ति दीहसासं ण रुअन्ति चिरं ण होन्ति किसिआओ ।
धण्णाओ ताओ जाणं बहुवल्लह वल्लहो ण तुमं ॥ ४७ ॥

[न मुञ्चन्ति दीर्घश्वासान्न रुदन्ति चिरं न भवन्ति कृशाः ।
धन्यास्ता यासां बहुवल्लभ वल्लभो न त्वम् ॥]

हे बहुवल्लभ, तुम जिसके प्रिय नहीं हो—ऐसा कहकर जो तुम्हारे विरहमें दीर्घनिःश्वास नहीं छोड़तीं, बहुतदेरतक रोदन भी नहीं करतीं एवं कृश भी नहीं होतीं—वे ही रमणी धन्य हैं ॥ ४७ ॥

णिद्दालसपरिघुम्मिरतंसवलन्तद्धतारआलोआ ।
कामस्स वि दुव्विसहा दिट्ठिणिवाआ ससिमुहीए ॥ ४८ ॥

[निद्रालसपरिघूर्णनशीलतिर्यग्वलदर्धतारकालोकाः ।
कामस्यापि दुर्विषहा दृष्टिनिपाताः शशिमुख्याः ॥]

चन्द्रवदनाकी पड़ी हुई दृष्टि मदनदेवके धैर्यकोभी तोड़ देती है क्योंकि यह दृष्टि अर्द्धतारकाके आलोकनिद्रामें अलस, परिघूर्णमान एवं मानवेतरभावमे प्रेरित ही दिखायी पड़ती है ॥ ४८ ॥

जीविअसेसाइ मए गमिआ कहँ कहँ वि पेम्मदुद्दोली ।
एह्णि विरमसु रे डड्ढहिअअ मा रज्जसु कहिं पि ॥ ४९ ॥
[जीवितशेषया मया गमिता कथं कथमपि प्रेमदुर्दोली ।
इदानीं विरम रे दग्धहृदय मा रज्यस्व कुत्रापि ॥]

रे दग्धहृदय, मैंने किसीप्रकार जीवनमात्रावशेष होकर प्रेमकी दूदोंली अर्थात् निष्फल प्रेम-ग्रन्थि निर्वाहित की है, तुम अब विरत हो जाओ एवं अन्य किसीसे अनुराग मत करो ॥ ४९ ॥

अज्जाए णवणहक्खअणिरिक्खणे गरुअजोव्वणुत्तुङ्गं ।
पडिमागअणिअणअणुप्पलच्चिअं होइ थणवट्टं ॥ ५० ॥
[आर्याया नवनखक्षतनिरीक्षणे गुरुयौवनोत्तुङ्गम् ।
प्रतिमागतनिजनयनोत्पलार्चितं भवति स्तनपृष्ठम् ॥]

वररमणीके अत्यन्त गुरु एवं यौवनोत्तुङ्गस्तनपृष्ठ, उसके नूतन नखक्षत दर्शनके समय, उसके प्रतिबिम्बित नयनपद्म द्वारा अर्चित हो रहा है ॥ ५० ॥

तं णमह जस्स वच्छे लच्छिमुहं कोत्थुहम्मि संकन्तं ।
दीसइ मअपरिहीणं ससिबिम्बं सूरबिम्ब व्व ॥ ५१ ॥
[तं नमत यस्य वक्षसि लक्ष्मीमुखं कौस्तुभे संक्रान्तम् ।
दृश्यते मृगपरिहीनं शशिबिम्बं सूर्यबिम्ब इव ॥]

उस नारायणको ही प्रणाम करो, जिसके वक्षस्थितकौस्तुभमणिमें संक्रान्त लक्ष्मीदेवीका मुखड़ा, सूर्यबिम्बमें प्रतिफलित मृगशून्य अर्थात् निष्कलङ्क चन्द्रबिम्बकी नाईं शोभायमान दृष्टिगत होता है ॥ ५१ ॥

मा कुण पडिवक्खसुहं अणुणेहि पिअं पसाअलोहिल्लं ।
अइगहिअगरुअमाणेण पुत्ति रासि व्व झिज्जिहिसि ॥ ५२ ॥
[मा कुरु प्रतिपक्षसुखमनुनय प्रियं प्रसादलोभयुतम् ।
अतिगृहीतगुरुकमानेन पुत्रि राशिरिव क्षीणा भविष्यसि ॥]

हे पुत्रि, शत्रुओंका सुख बढ़ाना मत, अपने प्रसादलोलुपप्रियको अनुनय-साध्य करो, नहीं तो अतिगुरुमानका ग्रहणकर तुम (तोलनेके लिए माशा आदि) राशिकी नाईं क्षीण एवं न्यून हो जाओगी ॥ ५२ ॥

विरहकरवत्तदूसहफालिज्जन्तम्मि तीअ हिअअम्मि ।
अंसू कज्जलमइलं पमाणसुत्तं व्व पडिहाइ ॥ ५३ ॥
[विरहकरपत्रदुःसहपाट्यमाने तस्या हृदये ।
अश्रु कज्जलमलिनं प्रमाणसूत्रमिव प्रतिभाति ॥]

दुःसह विरहरूप करपत्रद्वारा चल्यमान उसके हृदयकेऊपर उसका कज्जलमलिन अश्रु प्रमाणसूत्रकी नाईं प्रतिभात हो रहा है ॥ ५३ ॥

दुण्णिक्खेवअमेअं पुत्तअ मा साहसं करिज्जासु ।
एत्थ णिहिताइँ मण्णे हिअआइँ पुणो ण लब्भन्ति ॥ ५४ ॥
[दुर्निक्षेपकमेतत्पुत्रक मा साहसं करिष्यसि ।
अत्र निहितानि मन्ये हृदयानि पुनर्न लभ्यन्ते ॥]

हे पुत्रक, यह हृदय रूप निक्षेप या अर्पण दुर्निक्षेप कहा जा सकता है, अर्थात् तुम्हारे हृदयके फिर लौट पानेकी संभावना नहीं है, अतः तुम साहसपूर्ण कार्य करना मत । जान पड़ता है कि इस नायिकामें निहित मन फिर पाया नहीं जाता ॥ ५४ ॥

णिव्वुत्तरआ वि वहू सुरअविरामट्ठिइं अआणन्ती ।
अविरअहिअआ अण्णं पि किं पि अत्थि त्ति चिन्तेइ ॥ ५५ ॥
[निर्वृत्तरतापि वधूः सुरतविरामस्थितिमजानती ।
अविरतहृदयान्यदपि किमप्यस्तीति चिन्तयति ॥]

अनुभूतरमणा होनेपर भी वधूकी सुरतावसानपर क्या करना चाहिए, यह न जानकर अविरत हृदय लेकर, इसके बाद और कुछ है, ऐसा विचार करती है ॥ ५५ ॥

णन्दन्तु सुरअसुहरसतण्हावहराइँ सअललोअस्स ।
बहुकैअवमग्गविणिम्मिआइँ वेसाण पेम्माइं ॥ ५६ ॥
[नन्दन्तु सुरतसुखरसतृष्णापहराणि सकललोकस्य ।
बहुकैतवमार्गविनिर्मितानि वेश्यानां प्रेमाणि ॥]

सभीके सुरतसुखरसकी तृष्णाका अपहरणकरनेवाला एवं अनेक प्रकारके कपटमार्गद्वारा रचित वेश्याओंका प्रेम र[illegible]कोंकेलिए अभिनन्दनीय हो ॥ ५६ ॥

अप्पत्तमण्णुदुक्खो किं मं किसिअत्ति पुच्छसि हसन्तो ।
पावसि जइ चलचित्तं पिअं जणं ता तुह कहिस्सं ॥ ५७ ॥

[अप्राप्तमन्युदुःख किं मां कृशेति पृच्छसि हसन् ।
प्राप्स्यसि यदि चलचित्त प्रिय जन तदा तव कथयिष्यामि ॥]

चित्तक्षोभजन्य दुःख कभी तुम्हें नहीं मिला है, इसीसे हँसकर पूछती हो, 'मैं कृश क्यों हो गयी हूँ ।' चचलचित्त प्रिय जन तुम्हें मिल जायगा तभी तुम्हारे प्रश्नका उत्तर दूँगी ॥ ५७ ॥

अवहत्थिऊण सहिजम्पिआइँ जाणं कएण रमिओसि ।
एआइँ ताइँ सोक्खाइँ संसओ जेहिँ जीअस्स ॥ ५८ ॥
[अपहस्तयित्वा सखीजल्पितानि येषां कृते न रमितोऽसि ।
एतानि तानि सौख्यानि संशय यैर्जीवस्य ॥]

जिन सुखोंकेलिए तुमने सखियोंकी बात न मानकर मेरे साथ रमण करदही है, वे ही वे सारे सुख हैं। किन्तु इन सबकेद्वारा मेरा जीवन संशयापन्न हो जाता है ॥ ५८ ॥

ईसालुओ पई से रत्तिं महुअं ण देइ उच्चेउं ।
उच्चेइ अप्पण च्चिअ माए अइउज्जुअसुहाओ ॥ ५९ ॥
[ईर्ष्याशील पतिस्तस्या रात्रौ मधूक न ददात्युच्चेतुम् ।
उच्चिनोत्यात्मनैव मातरतिऋजुकस्वभाव ॥]

ईर्ष्यापरायणपति उसे रात्रिमें मधूकपुष्प नहीं चुनने देता । हे माँ, अत्यन्त सरलस्वभाववाला वह पति अपने आपही मधूकचयन कर रहा है ॥ ५९ ॥

अच्छोडिअवत्थद्धन्तपत्थिए मन्थरं तुमं वच्च ।
चिन्तेसि थणहरायासिअस्स मज्झस्स वि ण भङ्गं ॥ ६० ॥
[बलादाकृष्टवस्त्रार्धान्तप्रस्थिते मन्थर त्व व्रज ।
चिन्तयसि स्तनभरायासितस्य मध्यस्यापि न भङ्गम् ॥]

अरी, वस्त्रार्द्धान्त आकर्षणपूर्वक प्रस्थानशीले, मन्थरगतिसे जा । स्तनभारसे आयासित मध्यका भङ्ग हो सकता है, यह नहीं सोच रही हो क्या ॥ ६० ॥

उद्धच्छो पिअइ जलं जह जह विरलङ्गुली चिरं पहिओ ।
पावालिआ वि तह तह धारं तणुइं पि तणुएइ ॥ ६१ ॥
[ऊर्ध्वाक्ष पिबति जलं यथा यथा विरलाङ्गुलिश्चिर पथिक ।
प्रपापालिकापि तथा तथा धारां तनुकामपि तनूकरोति ॥]

ऊपरकी ओर नयन उठाकर हाथकी अङ्गुलियोंको विरलकर पथिक जैसे-

जैसे काल-विलम्बके साथ जलपान कर रहा है, प्याऊवालिका वैसे-वैसे ही पीनजलधाराको धीमतर कर जल ढाल रही है ॥ ६१ ॥

भिच्छाअरो पेच्छइ णाहिमण्डलं सावि तस्स मुहअन्दं ।
तं चडुअं अ करङ्कं दोह्व वि काआ विलुम्पन्ति ॥ ६२ ॥
[भिक्षाचरः प्रेक्षते नाभिमण्डलं सापि तस्य मुखचन्द्रम् ।
तच्चटुकं च करङ्कं द्वयोरपि काका विलुम्पन्ति ॥]

भिक्षाजीवी नायिकाके नाभिमण्डलकी ओर दृष्टिपात कर रहा है, वह नायिका भी उसके मुखचन्द्रकीओर देखरही है। इस अवसरपर कौए दोनोंके चटुक एवं करङ्क अर्थात् भिक्षादान पात्र एवं भिक्षाग्रहण पात्रसे अन्नको ले भागते हैं ॥ ६२ ॥

जेण विणा ण जिविज्जइ अणुणिज्जइ सो कआवराहो वि ।
पत्ते वि णअरदाहे भण कस्स ण वल्लहो अग्गी ॥ ६३ ॥
[येन विना न जीव्यतेऽनुनीयते स कृतापराधोऽपि ।
प्राप्तेऽपि नगरदाहे भण कस्य न वल्लभोऽग्निः ॥]

जिसे छोड़नेपर जीवनयापन सम्भव नहीं है, कृतापराध होनेपर भी उसे अनुनीत करना उचित है। बताओ तो, नगरके जलनेपर भी अग्नि किसे प्रिय नहीं है ॥ ६३ ॥

वक्कं को पुलइज्जउ कस्स कहिज्जउ सुहं व दुक्खं वा ।
केण समं व हसिज्जउ पामरपउरे हअग्गामे ॥ ६४ ॥
[वक्रं कः प्रलोक्यतां कस्य कथ्यतां सुखं वा दुःखं वा ।
केन समं वा हस्यतां पामरप्रचुरे हतग्रामे ॥]

किसकी ओर मैं वक्रभावसे देखूँ, किससे सुखदुःखकी बातें कहूँ एवं इस पामरबहुल,दुष्ट ग्राम में किसके साथ परिहास करूँ ? ॥ ६४ ॥

फलहीवाहणपुण्णाहमङ्गलं लङ्गले कुणन्तीए ।
असईअ मणोरहगब्भिणीअ हत्था थरहरन्ति ॥ ६५ ॥
[कार्पासीक्षेत्रकर्षणपुण्याहमङ्गलं लाङ्गले कुर्वत्याः ।
असत्या मनोरथगर्भिण्या हस्तौ थरथरायेते ॥]

कपासका खेत जुतनेके शुभारम्भदिवसकी मङ्गलक्रिया सम्पादन करनेकेसमय मनोरथधारिणी असतीके हस्तद्वय थरथरा रहे हैं ॥ ६५ ॥

पहिउल्लूरणसङ्काउलाहिँ असईहिँ वहलतिमिरस्स ।
आइप्पणेण णिहुअं वडस्स सित्ताइँ पत्ताइं ॥ ६६ ॥

[पथिकच्छेदनशङ्काकुलाभिरसतीभिर्बहलतिमिरस्य ।
आलेपनेन निभृतं वटस्य सिक्तानि पत्राणि ॥]

अन्धकार बहुल वटवृक्षके पत्तोंको अन्धकार दूरकरनेकेलिए पथिकगण कहीं छेद न दें, इस आशङ्कासे आकुल असती स्त्रियोंने आलेपनद्वारा उन्हें छिपाकर सिक्त कर रखा है अर्थात् काकविष्टाकी आशङ्कासे पथिकगण मानो पत्तोंका छेदन नहीं करते ॥ ६६ ॥

मज्जन्तस्स वि तुह सग्गगामिणो णइकरञ्जसाहाओ ।
पाआ अज्ज वि धम्मिअ तुह कहँ धरणिं चिअ छिवन्ति ॥ ६७ ॥

[मज्जतोऽपि तव स्वर्गगामिनो नदीकरञ्जशाखाः ।
पादावद्यापि धार्मिक तव कथं धरणीमेव स्पृशतः ॥]

हे धार्मिक, स्वर्गगमनके अभिलाषी होकर तुम नदीतटस्थित करञ्जकी शाखा दन्तधावनार्थ भग्नकररहे हो, किन्तु अभीतक तुम्हारे दोनों पैर पृथ्वीपर ही कैसे रखे हैं ॥ ६७ ॥

अच्छउ दाव मणहरं पिआइ मुहदंसणं अइमहग्घं ।
तग्गामछेत्तसीमा वि झत्ति दिट्ठा सुहावेइ ॥ ६८ ॥

[अस्तु तावन्मनोहरं प्रियाया मुखदर्शनमतिमहार्घम् ।
तद्ग्रामक्षेत्रसीमापि झटिति दृष्टा सुखयति ॥]

प्रेयसी के अति मूल्यवान मनोहर मुख-दर्शनकी बात तो दूर रहे, उसके ग्रामकी क्षेत्रसीमा भी यदि कहीं अचानक दिख जाय तो वह भी मनमें सुख उत्पन्न करती है ॥ ६८ ॥

णिक्कम्माहिँ वि छेत्ताहिँ पामरो णेअ वच्चए वसइं ।
मुअपिअजाआसुण्णइअगेहदुक्खं परिहरन्तो ॥ ६९ ॥

[निष्कर्मणोऽपि क्षेत्रात्पामरो नैव व्रजति वसतिम् ।
मृतप्रियजायाशून्यीकृतगेहदुःखं परिहरन् ॥]

प्यारी जायाके मर जानेपर शून्य गृहके दुःखको दूरकरनेकेलिए पामर कार्यशून्य क्षेत्रसे भी अपने घर नहीं जा रहा है ॥ ६९ ॥

झञ्झावाउत्तिण्णिअघरविवरपलोट्टसलिलधाराहिं ।
कुड्डलिहिओहिदिअहं रक्खइ अज्जा करअलेहिं ॥ ७० ॥

[झञ्झावातोत्तृणीकृतगृहविवरप्रपतत्सलिलधाराभिः ।
कुड्यलिखितावधिदिवसं रक्षत्यार्या करतलैः ॥]

झञ्झावातमें तृणके उड़ जानेपर गृहविवरद्वारपर्यन्त जल बह रहा है, साध्वी आर्या भित्तिलिखित स्वामीके प्रवासकाल अवधिसूचक दिनसंख्याको दोनों हाथोंद्वारा रक्षा कर रही है ॥ ७० ॥

गोलाणईए कच्छे चक्खन्तो राइआइ पत्ताइं ।
उप्फडइ मक्कडो खोक्खएइ पोट्टं अ पिट्टेइ ॥ ७१ ॥
[गोदावरी नद्याः कच्छे चर्वयन्राजिकायाः पत्राणि ।
उत्पतति मर्कटः खोक्खशब्दं करोत्युदरं च ताडयति ॥]

गोदावरीके किनारे राजिकाका पत्र चबाँकर बन्दर उछल रहे हैं, खोक् शब्द कर रहे हैं एवं अपने पेट पीट रहे हैं [संकेत स्थानमें भयकी आशङ्का है] ॥ ७१ ॥

गहवइणा मुअसैरिहडुण्डुअदामं चिरं वहेऊण ।
वग्गसआइं णेऊण णवरिअ अज्जाघरे बद्धं ॥ ७२ ॥
[गृहपतिना मृतसैरिभघण्टादाम चिरमूढ्वा ।
वर्गशतानि नीत्वानन्तरमार्यागृहे बद्धम् ॥]

गृहपतिने मृत महिषके बृहद् घण्टाकी मालाको अनेकदिन तक सुरक्षित रखकर शतशतपशुओंको खरीदकर भी, पूर्व सदृश महिष न पाकर उस मालाको आर्याके आयतनमें बाँध रखा। [सुभगा पूर्वपत्नीके आभूषणादिको अन्य प्रेयसीको देना उचित नहीं] ॥ ७२ ॥

सिहिपेहुणावअंसा वहुआ वाहस्स गव्विरी भमइ ।
गअमोत्तिअरइअपसाहणाणँ मज्झे सवत्तीणं ॥ ७३ ॥
[शिखिपिच्छावतंसा वधूर्व्याधस्य गर्विता भ्रमति ।
गजमौक्तिकरचितप्रसाधनानां मध्ये सपत्नीनाम् ॥]

मयूरपुच्छद्वारा विभूषित होकर भी व्याधवधू गर्वके साथ गजमुक्तासे निर्मित आभूषणोंको धारणकर सपत्नियोंके बीच भ्रमण कर रही है ॥ ७३ ॥

वङ्कच्छिपेच्छिरीणं वङ्कुल्लविरीणं वङ्कभमिरीणं ।
वङ्कहसिरीणं पुत्तअ पुण्णेहिँ जणो पिओ होइ ॥ ७४ ॥
[वक्राक्षिप्रेक्षणशीलानां वक्रोल्लपनशीलानां वक्रभ्रमणशीलानाम् ।
वक्रहासशीलानां पुत्रक पुण्यैर्जनः प्रियो भवति ॥]

हे पुत्रक, जो रमणी तिरछेकटाक्षसे देखनेवाली, वक्रवचनसे उद्दीपनशीला, वक्रगतिसे भ्रमणशीला एवं वक्रहँसी से हँसनशीलाका प्रिय होनेकेलिए लोगोंके पुण्यका बल होना आवश्यक है ॥ ७४ ॥

भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुणओ अज्ज मारिओ तेण ।
गोलाअडविअडकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥ ७५ ॥

[भ्रम धार्मिक विस्रब्ध स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
गोदातटविकटकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥]

हे धार्मिक, तुम प्रशान्तभावसे अन्यत्र भ्रमण करो, गोदावरीके तीरवर्ती विकटकुञ्जमें वास करनेवाले उस दृप्त सिंहद्वारा वह कुत्ता आज ही मारा गया है ॥ ७५ ॥

वाएरिएण भरिअं अच्छिं कण्णऊरउप्पलरएण ।
फुक्कन्तो अविअह्नं चुम्बन्तो को सि देवाणं ॥ ७६ ॥

[वातेरितेन भृतमक्षि कर्णपूरोत्पलरजसा ।
फूत्कुर्वन्नवितृष्णं चुम्बन्कोऽसि देवानाम् ॥]

वायुद्वारा उत्क्षिप्तकर्णपूररजमें व्याप्तनयनपरागसे पूर्णनयनमें फूत्कार करने जाकर अतृप्तअभिलाषसे चुम्बन करनेवाले तुम देवोंमेंसे कोई देव हो ॥ ७६ ॥

सहि दुम्मेन्ति कलम्बाइं जह मं तह ण सेसकुसुमाइं ।
णूणं इमेसु दिअहेसु वहइ गुडिआधणुं कामो ॥ ७७ ॥

[सखि व्यथयन्ति कदम्बानि यथा मां तथा न शेषकुसुमानि ।
नूनमेषु दिवसेषु वहति गुटिकाधनुः कामः ॥]

अरी सखी, कदम्बक फूल हमें जितना मन कष्ट देते हैं, अन्य फूल उतना नहीं देते । क्योंकि दिनोंमें कामदेव निश्चय ही कदम्बकुसुमरूप गुटिका या निक्षेपकाधिकुष व्यवहारमें ला रहे हैं ॥ ७७ ॥

णाहं दूई ण तुमं पिओ त्ति को अम्ह एत्थ वावारो ।
सा मरइ तुज्झ अअसो तेण अ धम्मक्खरं भणिमो ॥ ७८ ॥

[नाहं दूती न त्वं प्रिय इति कोऽस्माकमत्र व्यापारः ।
सा म्रियते तवायशस्तेन च धर्माक्षरं भणामः ॥]

मैं स्वयं दूती नहीं हूँ, तुम भी उसके प्रिय नहीं हो, सुतरां इसविषयमें हमलोगोंको कुछ नहीं करना है । तब वह मारी जायगी और तुम्हारे अपयशकी

चर्चा भी चलेगी, इसीसे मैंने स्त्रीवधनिवारणके निमित्त यह धर्मवार्ता चलायी ॥ ७८ ॥

नीअ मुहादि तुह मुहं तुज्झ मुहाओ अ मज्झ चलणम्मि ।
हत्थाहत्थीअ गओ अइदुक्करआरओ तिलओ ॥ ७९ ॥

[तस्या मुखात्तव मुखं तव मुखाच्च मम चरणे ।
हस्ताहस्तिकया गतोऽतिदुष्करकारकस्तिलकः ॥]

अत्यन्त दुष्कर कार्य करनेवाली उस नायिकाका तिलक आलिङ्गन करते समय उसके मुखसे तुम्हारे मुखमें एवं प्रणतिके समय तुम्हारे मुखसे मेरे चरणोंमें प्रतियोगिताभावसे हस्तान्तरित हो संलग्न हुआ है ॥ ७९ ॥

सामाइ सामलिज्जइ अद्धच्छिपलोइरीअ मुहसोहा ।
जम्बूदलकअकण्णावअंसभरिए हलिअपुत्ते ॥ ८० ॥

[श्यामायाः श्यामलायतेऽर्धाक्षिप्रलोकनशीलाया मुखशोभा ।
जम्बूदलकृतकर्णावतंसभ्रमणशीले हलिकपुत्रे ॥]

जम्बूकिसलयको कर्णावतंसरूपमें व्यवहृतकरनेवाले हालिकपुत्रको देखकर अधखुले नयनोंसे देखनेवाली श्यामाकी मुखशोभा साँवली हो गई ॥ ८० ॥

दूइ तुमं चिअ कुसला कक्खडमउआइँ जाणसे वोल्लुं ।
कण्डूइअपण्डुरँ जह ण होइ तह तं करेज्जासु ॥ ८१ ॥

[दूति त्वमेव कुशला कर्कशमृदुकानि जानासि वक्तुम् ।
कण्डूयितपाण्डुरं यथा न भवति तथा तं करिष्यसि ॥]

हे दूती, तुम्हीं बड़ी कुशला हो, एवं तुम्हीं जानती हो कि किसप्रकार कर्कश एवं मृदुवचन बोलाजाता है, किन्तु देखो, उसे खाज तो लगे पर वह पीला न पड़ जाय ॥ ८१ ॥

महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुहअ सा अमामन्ती ।
दिअहं अणण्णकम्मा अङ्गं तणुअं पि तणुएइ ॥ ८२ ॥

[महिलासहस्रभृते तव हृदये सुभग सा अमान्ती ।
दिवसमनन्यकर्मा अङ्गं तनुकमपि तनूकरोति ॥]

हे सुभग, सहस्रों महिलाओंद्वारा भरे हुए तुम्हारे हृदयमें स्थान न पाकर वह अन्य दैनिक कार्योंको छोड़कर अपने कृश अङ्गोंको कृशतर कर रही है ॥ ८२ ॥

खणमेत्तं पि ण फिट्टइ अणुदिअहविइण्णगरुअसंतावा ।
पच्छण्णपावसङ्के व्व सामली मज्झ हिअआओ ॥ ८३ ॥

[श्यमाश्रमपि नाययास्यनुदिवसविकीर्णगुरुसन्तापा ।
प्रस्तुतपापराङ्केव श्यामला मम हृदयात् ॥]

प्रस्तुत पापकी आशङ्काकी भाँति प्रतिदिन गुरु सन्ताप उत्पादन करके भी यह श्यामा मेरे हृदयसे पृथक् वा अपगत नहीं होती ॥ ८३ ॥

अज्ज्ञ णाहं कुविआ अवऊहसु किं मुहा पसाएसि ।
तुह मण्णुसमुप्पाअएँण मज्झ माणेण वि ण कज्जं ॥ ८४ ॥
[अज्ञ नाहं कुपिता उपगूह किं मुधा प्रसादयसि ।
तव मन्युसमुत्पादकेन मम मानेनापि न कार्यम् ॥]

अरे अज्ञ, मैं तुमपर कुपित नहीं हुई हूँ, मेरा आलिङ्गन करो, मुझे वृथा ही क्यों प्रसन्न करना चाहते हो। मेरी ओरसे तुम्हारे ऊपर कोप करनेवाले मनका अवलम्बन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है ॥ ८४ ॥

दीहुण्हपउरणीसासपआविओ बाहसलिलपरिसित्तो ।
साहेइ सामसवलं व तीएँ अहरो तुह विओए ॥ ८५ ॥
[दीर्घोष्णप्रचुरनिश्वासप्रतप्तो बाष्पसलिलपरिसिक्तः ।
साधयति श्यामशबलमिव तस्या अधरस्तव वियोगे ॥]

तुम्हारे विरहमें उसका अधर दीर्घ, उष्ण तथा प्रचुर निश्वाससे तप्त एवं वाष्पजलसे परिसिक्त होकर मानो 'श्यामशबल' नामक व्रतविशेषका आचरण कर रहा है [इस व्रतमें पहले अग्नि और बादमें जलके भीतर प्रवेश करने की विधि है] ॥ ८५ ॥

सरए महद्दहाणं अन्तो सिसिराइँ बाहिरुह्णाइं ।
जाआइँ कुविअसज्जणहिअअसरिच्छाइँ सलिलाइं ॥ ८६ ॥
[शरदि महाह्रदानामन्तः शिशिराणि बहिरुष्णानि ।
जातानि कुपितसज्जनहृदयसदृक्षाणि सलिलानि ॥]

शरत्कालमें महाह्रदसमूहोंकी जलराशि कुपित सज्जनहृदयके समान भीतर शीतल, किन्तु बाहर गर्म रहती है ॥ ८६ ॥

आअस्स किंणु करिहिमि किँ वोलिस्सं कहं णु होहिइ इमं ति ।
पढमुग्गअसाहसआरिआइ हिअअं थरहरेइ ॥ ८७ ॥
[आगतस्य किं नु करिष्यामि किं वक्ष्यामि कथं नु भविष्यति [इदम्] इति ।
प्रथमोद्गतसाहसकारिकाया हृदयं थरथरायते ॥]

नायकके आ जानेपर मैं क्या करूँगी, उसे क्या कहूँगी एवं कैसे अभिसार होगा ? ऐसा सोचकर प्रथमोद्गतसाहस अवलम्बन करनेवालीका हृदय थरथर काँपता है ॥ ८७ ॥

णेउरकोडिविलग्गं चिउरं दइअस्स पाअपडिअस्स ।
हिअअं पउत्थमाणं उम्मोअन्ती व्विअ कहेइ ॥ ८८ ॥
[नूपुरकोटिविलग्नं चिकुरं दयितस्य पादपतितस्य ।
हृदयं प्रोषितमानमुन्मोचयन्त्येव कथयति ॥]

नूपुरके अग्रभागमें सलग्न पादपतितप्रियजनके केशका उन्मोचनकरके ही, यह नायिका अपने हृदयके मानयुक्त होनेकी सूचना दे रही है ॥ ८८ ॥

तुज्झङ्गराअसेसेण सामली तह खरेण सोमारा ।
सा किर गोलाऊले ह्वाआ जम्बूकसाएण ॥ ८९ ॥
[तवाङ्गराग शेषेण श्यामला तथा खरेण सुकुमारा ।
सा किल गोदाकूले स्नाता जम्बूकषायेण ॥]

सुकुमाराङ्गी वह श्यामा तुम्हारे अङ्गरागदोष तीक्ष्ण जम्बुकषायद्वारा गोदा नदीनदीके किनारे नहला दी गयी है ॥ ८९ ॥

अज्ज च्चेअ पउत्थो अज्ज च्चिअ सुण्णआइँ जाआइं ।
रत्थामुहदेउलचत्तराइँ अह्मं च हिअआइं ॥ ९० ॥
[अद्यैव प्रोषितोऽद्यैव शून्यकानि जातानि ।
रथ्यामुखदेवकुलचत्वराण्यस्माकं च हृदयानि ॥]

आज ही यह नायक प्रवासार्थ चला गया है और आज ही गाँवका मार्गमुख, देवकुल तथा चत्वरसमूह एवं साथ साथ हमलोगोंका हृदयसमूह शून्य हो गया है ॥ ९० ॥

विरइँ पि अआणन्तो लोओ लोएहिँ गोरवब्भहिआ ।
सोणारतुले व्व णिरक्खरा वि खन्धेहिँ उब्भन्ति ॥ ९१ ॥
[वर्णावलीमप्यजानन्तो लोका लोकैर्गौरवाभ्यधिका ।
सुवर्णकारतुला इव निरक्षरा अपि स्कन्धैरुह्यन्ते ॥]

अनेक व्यक्ति वर्णमालाके ज्ञानरहित अनेक व्यक्तियोंको गौरवमें अधिक समझकर, स्वर्णकारकी निरक्षरतुलाकी भाँति, कन्धेपर झुलाकर ढोते हैं ॥ ९१ ॥

आअम्बन्तकवोलं खलिअक्खरजम्पिरिं फुरन्तोट्ठिं ।
मा छिवसु त्ति सरोसं समोसरन्ति पिअं भरिमो ॥ ९२ ॥

[आताम्राक्षः कपोलौ स्खलिताक्षरजल्पनशीलां स्फुरदोष्ठीम् ।
मा स्पृशेति सरोषं समपसर्पन्तीं प्रियां स्मरामः ॥]

ईषत् ताम्रायमान कपोलविशिष्ट, स्खलिताक्षरमें जल्पनकारिणी, स्फुरिताधरा एवं 'मुझे छूना मत' कहकर रोषसहित अलग हटनेवाली अपनीप्रियाका मैं स्मरण करता हूँ ॥ ९२ ॥

गोलाविसमोआरच्छलेण अप्पा उरम्मि से मुक्को ।
अणुअम्पाणिद्दोसं तेण वि सा आढमुवऊढा ॥ ९३ ॥
[गोदावरी विषमावतारच्छलेनात्मा उरसि तस्य मुक्तः ।
अनुकम्पानिर्दोषं तेनापि सा गाढमुपगूढा ॥]

गोदावरीका अवतरणस्थान विषम है, इसी बहाने नायिकाने अपने शरीरको नायकके वक्षस्थलपर छोड़ दिया एवं उसने भी अनुकम्पासे निर्दोष-समझकर उसे प्रेमसे आलिङ्गित किया ॥ ९३ ॥

सा तुइ सहत्थदिण्णं अज्ज वि रे सुहअ गन्धरहिअं पि ।
उव्वसिअणअरघरदेवदे व्व ओमालिअं वहइ ॥ ९४ ॥
[सा त्वया स्वहस्तदत्तामद्यापि रे सुभग गन्धरहितामपि ।
उद्वसितनगरगृहदेवतेव अवमालिकां वहति ॥]

हे सुभग, सम्प्रति गन्धरहित होनेपरभी, तुम्हारे हाथद्वारा पायी हुई मालाको वह परित्यक्त नगरगृहदेवताकी भाईं, आज भी ढो रही है ॥ ९४ ॥

केलीअ वि रूसेउं ण तीरए तम्मि चुक्कविणअम्मि ।
जाइअएहिँ व माए इमेहिँ अवसेहिँ अङ्गेहिँ ॥ ९५ ॥
[केल्यापि रुषितु न शक्यते तस्मिंश्च्युतविनये ।
याचितकैरिव मातरेभिरवशैरङ्गैः ॥]

अरी माता, उसके विनयच्युतहोनेपरभी, दूसरेद्वारा मोलाममें लायी हुई वस्तुकी भाँति मेरे अवश अङ्गोंको केलिकेबहानेभी क्रुद्ध नहीं किया जा सकेगा ॥ ९५ ॥

उप्फुल्लिआइ खेल्लउ मा णं वारेहि होउ परिऊढा ।
मा जहणभारगरुई पुरिसाअन्ती किलिम्मिहिइ ॥ ९६ ॥
[उत्फुल्लिकया खेलतु मैनां वारयत भवतु परिणामा ।
मा जघनभारगुर्वी पुरुषायितं कुर्वती क्लमिष्यति ॥]

यह बालिका उत्फुल्लिका नामक क्रीड़ाकर खेले, इसे रोकना मत, इसे कुछ चीण होने दो, जिससे जघनभारकीगुरुता लेकर विपरीतविहार करते समय क्लान्ति अनुभव न करे ॥ ९६ ॥

पउरजुआणो गामो महुमासो जोअणं पई ठेरो ।
जुण्णसुरा साहीणा असई मा होउ किं मरउ ॥ ९७ ॥

[प्रचुरयुवा ग्रामो मधुमासो यौवनं पतिः स्थविरः ।
जीर्णसुरा स्वाधीना असती मा भवतु किं म्रियताम् ॥]

गाँवमें अनेक युवक रहते हैं, मास भी मधुमास है, नायिकाका यौवन पूर्ण है, किन्तु उसका पति स्थविर है, सुरामी पुरानी है, जिसको इतनी स्वाधीनता है, वह युवती असती नहीं होगी तो क्या मरेगी ? ॥ ९७ ॥

बहुसो वि कहिज्जन्तं तुह वअणं मज्झ हत्थसंदिट्ठं ।
ण सुअं त्ति जम्पमाणा पुणरुत्तसअं कुणइ अज्जा ॥ ९८ ॥

[बहुशोऽपि कथ्यमानं तव वचनं मम हस्तसंदिष्टम् ।
न श्रुतमिति जल्पन्ती पुनरुक्तशतं करोत्यार्या ॥]

मेरेद्वारा प्रेरित तुम्हारी बात अनेक बार अनेक प्रकारसे उससे कहे जानेपर भी, 'यह नहीं सुना गया' ऐसा कहकर वह आर्या ही सैकड़ोंवार पुनरुक्ति कराती है ॥ ९८ ॥

पाअडिअणेहसब्भावणिब्भरं तीअ जह तुमं दिट्ठो ।
संवरणवावडाए अण्णो वि जणो तह च्चेअ ॥ ९९ ॥

[प्रकटितस्नेहसद्भावनिर्भरं तया यथा त्वं दृष्टः ।
संवरणव्यापृतया अन्योऽपि जनस्तथैव ॥]

स्नेहप्रकटन एवं पूर्णसद्भावसे नायिका जिसप्रकार तुम्हें भी देखती है, प्रेमको छिपानेकेलिए बाध्य हो, वह अन्यलोगोंको भी उसीप्रकार देखती है ॥ ९९ ॥

गेह्णइ पलोअइ इमं पहसिअवअणा पइस्स अप्पेइ ।
जाआ सुअपढमुब्भिण्णदन्तजुअलङ्किअं बोरं ॥ १०० ॥

[गृहीत्वा प्रलोकयतेदं प्रहसितवदना पत्युरर्पयति ।
जाया सुतप्रथमोद्भिन्नदन्तयुगलाङ्कितं बदरम् ॥]

'इसे ग्रहण करो एवं देखो'—ऐसा कहकर जायाने पुत्रके प्रथमोद्‌गत युगदन्तद्वाराधिह्नित बेरफलको हँसते हुए पतिको समर्पित किया ॥ १०० ॥

रसिअजणहिअअदइए कइवच्छलपमुहसुकइणिम्मइए ।
सत्तसअम्मि समत्तं बीअं गाहासअं एअं ॥ १०१ ॥

[रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखसुकविनिर्मिते ।
सप्तशतके समाप्तं द्वितीयं गाथाशतकमेतत् ॥]

कविवत्सल प्रमुख सुकविरचित रसिकजनोंके हृदयहार सप्तशतीमें यह द्वितीय गाथाशतक समाप्त हुआ ॥ १०१ ॥

—:o:—

तृतीय शतक

अच्छउ ता जणवाओ हिअअं चिअ अत्तणो तुह पमाणं ।
तह तं सि मन्दणेहो जह ण उवालम्भजोग्गो सि ॥ १ ॥

[आस्तां तावज्जनवादो हृदयमेवात्मनस्तव प्रमाणम् ।
तथा त्वमसि मन्दस्नेहो यथा नोपालम्भयोग्योऽसि ॥]

लोग अल्पस्नेह कहकर तुम्हारी निन्दा करते हैं, यह बात तो जाने दो, उस विषयमें तो तुम्हारा हृदय ही प्रमाण है। तुम इतने मन्दस्नेह हो गए हो कि तुम तिरस्कारके पात्र भी नहीं रह गए हो ॥ १ ॥

अप्पच्छन्दपहाविर दुल्लहलम्भं जणं वि मग्गन्त ।
आआसपहेहिँ भमन्त हिअअ कइआ वि भज्जिहिसि ॥ २ ॥

[आत्मच्छन्दप्रधावनशील दुर्लभलम्भं जनमपि मृगयमाण ।
आकाशपथैर्भ्रमद्धृदय कदापि भङ्क्ष्यसे ॥]

रे हृदय, तुम स्वेच्छासे प्रियजनकी प्राप्तिकी आशामें दौड़ रहे हो, जिसकी प्राप्ति दुर्लभ है, उसके अन्वेषणमें तत्पर हुए हो, तुम आकाशमार्गमें विचरणशील हो गए हो। संभवतः ऐसा करनेसे तुम किसी समय टूटकर गिर पड़ोगे ॥ २ ॥

अहव गुणच्चिअ लहुआ अहवा गुणण्णुओ ण सो लोओ ।
अहव म्हि णिग्गुणा वा बहुगुणवन्तो जणो तस्स ॥ ३ ॥

[अथवा गुणा एव लघवोऽथवा गुणज्ञो न स लोकः ।
अथवास्मि निर्गुणा वा बहुगुणवाञ्जनस्तस्य ॥]

संभवतः मेरे गुण ही लघु या अनादरणीय हैं, या वह व्यक्ति ही गुणज्ञ नहीं है, अथवा मैं ही गुणशून्य हूँ, अथवा उसका प्रिय व्यक्ति ही अनेक गुणोंसे सम्पन्न होगा ॥ ३ ॥

फुट्टन्तेण व्वि हिअएण मामि कह णिव्वरिज्जए तम्मि ।
आअंसे पडिबिम्बं व्वि जम्मि दुक्खं ण संकमइ ॥ ४ ॥

[स्फुटितापि हृदयेन मातुलानि कथं निवेद्यते तस्मिन् ।
आदर्शे प्रतिबिम्बमिव यस्मिन्दुःखं न संक्रामति ॥]

हे मामी, दुःखसे विदीर्यमान हृदय लेकर भी किस प्रकार उससे मनोव्यथा व्यक्त करूँगी? दर्पण में प्रतिबिम्बकी नाईं उसी व्यक्तिमें मेरा अनुभूत दुःख संक्रान्त हो जायगा न ॥ ४ ॥

पासासङ्की काओ णेच्छदि दिण्णं पि पहिअघरणीए ।
ओअन्तकरअलोगलिअवलअमज्झट्ठिअं पिण्डं ॥ ५ ॥

[पाशाशङ्की काको नेच्छति दत्तमपि पथिकगृहिण्या ।
अवनतकरतलावगलितवलयमध्यस्थितं पिण्डम् ॥]

विरहक्लिष्टा पथिकवनिताद्वारा प्रदत्त पिण्डको अपने लटकेहुए करतलसे विगलित वलयके मध्यस्थित देखकर, पाशाशङ्कासे उद्विग्न काक उसे ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं करता ॥ ५ ॥

ओहिदिअहागमासंकिरीहिं सहिआहिं कुड्डलिहिआओ ।
दोतिण्णि तहिं च्चिअ चोरिआएँ रेहा पुसिज्जन्ति ॥ ६ ॥

[अवधिदिवसागमाशङ्किनीभिः सखीभिः कुड्यलिखिताः ।
द्वित्रास्तत्रैव चौरिकया रेखाः प्रोञ्छ्यन्ते ॥]

प्रियतमके प्रत्यागमनकी अवधिदिवसको निकटवर्ती समझकर सखियोंने दिवसगणनाकी अङ्कित रेखाओंमेंसे दोतीनको अलक्षित भावसेही पोंछ रखा है ॥ ६ ॥

तुह मुहसारिच्छं ण लहइ त्ति संपुण्णमण्डलो विहिणा ।
अण्णमअं व्व घडइउं पुणो वि खण्डिज्जइ मिअङ्को ॥ ७ ॥

[तवमुखसादृश्यं न लभत इति संपूर्णं मण्डलो विधिना ।
अन्यमयमिव घटयितु पुनरपि खण्ड्यते मृगाङ्कः ॥]

'आजतक चन्द्रमा तुम्हारे मुखके का सादृश्य प्राप्त न कर सका', इसी कारण विधाता सम्पूर्ण मण्डल चन्द्रकोभी अन्य प्रकारसे निर्मितकरनेकेलिए उसे खण्डित कर डालता है ॥ ७ ॥

अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति अज्जं गओत्ति गणरीए ।
पढम च्चिअ दिअहद्धे कुड्डो रेहाहिँ चित्तलिओ ॥ ८ ॥

[अद्य गत इत्यद्य गत इत्यद्य गत इति गणनशीलया ।
प्रथम एव दिवसार्धे कुड्यं रेखाभिश्चित्रितम् ॥]

'प्रियतम आज ही गया है, आज ही गया है, आज ही गया है', इस

प्रकार गणनाकर प्रथम दिनार्द्धमें ही मेरी सखीने गृहभित्तिको रेखाङ्कन द्वारा चित्रित किया है ॥ ८ ॥

ण वि तह पढमसमागमसुरअसुहे पाविए वि परिओसो ।
जह बीअदिअहसविलक्खलक्खिए वअणकमलम्मि ॥ ९ ॥
[नापि तथा प्रथमसमागमसुरतसुखे प्राप्तेऽपि परितोषः ।
यथा द्वितीय दिवससविलक्षलक्षिते वदनकमले ॥]

प्रथम समागममें सुरतसुखसे भी उस प्रकारका सुख नहीं मिला, जिस प्रकारका सन्तोष दूसरे दिन उसके सलज्ज अवलोकनसे भूषित वदनकमलको देखकर मिला था ॥ ९ ॥

जे सँमुहागअवोलन्तवलिअपिअपेसिअच्छिविच्छोहा ।
अम्हं ते मअणसरा जणस्स जे होन्ति ते होन्तु ॥ १० ॥
[ये सम्मुखागतव्यतिक्रान्तवलितप्रियप्रेषिताक्षिविक्षोभाः ।
अस्माकं ते मदनशरा जनस्य ये भवन्ति ते भवन्तु ॥]

अन्य लोगोंके निकट जैसा हो होवे, हमारे निकट किन्तु प्रथमतः अनुनयार्थ सम्मुखागत होकर रोषवशात् व्यतिक्रान्त होनेके समय विवलित होकर प्रियतम जब विक्षोभित दृष्टि डालते हैं, तब वे मदनशर जैसे प्रतीत होते हैं ॥ १० ॥

इअरो जणो ण पावइ तुह जहणारुहणसंगमसुहेल्लिं ।
अणुहवइ कणअडोरो हुअवहवलणाणँ माहप्पं ॥ ११ ॥
[इतरो जनो न प्राप्नोति तव जघनारोहणसंगमसुखकेलिम् ।
अनुभवति कनकदोरो हुतवहवलनयोर्माहात्म्यम् ॥]

तुम्हारे जघनपर आरोहणरूप संगमसुखकेलि अन्य कोई अनुभव नहीं कर पाता। केवल कनकसूत्र ही अग्नि एवं वलनके माहात्म्यका अनुभव कर सकते हैं ॥ ११ ॥

जो जस्स विहवसारो तं सो देइ त्ति किं त्थ अच्छेरं ।
अणहोन्तं पि खु दिण्णं दोहग्गं तइ सवत्तीणं ॥ १२ ॥
[यो यस्य विभवसारस्तं स ददातीति किमत्राश्चर्यम् ।
अभवदपि खलु दत्तं दौर्भाग्यं त्वया सपत्नीनाम् ॥]

जिसका जो वैभव है वह उसे ही दे सकता है, इसमें क्या आश्चर्य? किन्तु तुम्हारे पास जो नहीं है, ऐसा प्रियप्रणयमें वञ्चितता तुम सपत्नियोंको दे सके हो, यही आश्चर्यका विषय है ॥ १२ ॥

चन्दसरिसं मुहं से सरिसो अमअस्स मुहरसो तिस्सा ।
सकअग्गहरहसुज्जलचुम्बणअं कस्स सरिसं से ॥ १३ ॥
[चन्द्रसदृशं मुखं तस्याः सदृशोऽमृतस्य मुखरसस्तस्याः ।
सकचग्रहरभसोज्ज्वलचुम्बनकं कस्य सदृशं तस्याः ॥]

उसका मुख चन्द्रसदृश है, उसका अधररस अमृतके समान है, किन्तु उसके केशग्रहणके साथ वेगोज्वल चुम्बन किस वस्तु के तुल्य है ? यह कहते नहीं बनता ॥ १३ ॥

उप्पण्णत्थे कज्जे अइचिन्तन्तो गुणागुणे तम्मि ।
चिरआलमन्दपेच्छित्तणेण पुरिसो हणइ कज्जं ॥ १४ ॥
[उत्पन्नार्थे कार्येऽतिचिन्तयन्गुणागुणौ तस्मिन् ।
चिरकालमन्दप्रेक्षित्वेन पुरुषो हन्ति कार्यम् ॥]

इस फलाभिमुख कार्यसे गुणदोषका अत्यधिक विचार करने लगकर, बहुतदेरतक केवल मन्द दिखाके प्रेक्षणद्वारा पुरुष कार्यको नष्ट कर देता है ॥ १४ ॥

बालअ तुमाहि अहिअं णिअअं विअ वल्लहं महं जीअं ।
तं तइ विणा ण होइ त्ति तेण कुविअं पसाएमि ॥ १५ ॥
[बालक त्वत्तोऽधिकं निजकमेव वल्लभं मम जीवितम् ।
तत्त्वया विना न भवतीति तेन कुपितं प्रसादयामि ॥]

अरे बालक, मेरेलिए मेरा अपना जीवन तुम्हारे जीवन से भी प्रिय है, वह जीवन तुम्हारे बिना नहीं रहना चाहता, इस कारणसे कुपित तुम्हें प्रसन्न करनेकेलिए उद्यत हुई हूँ ॥ १५ ॥

पत्तिअ ण पत्तिअन्ती जइ तुज्झ इमे ण मज्झ रुअईए ।
पुट्ठीअ वाहबिन्दू पुलउब्भेएण भिज्जन्ता ॥ १६ ॥
[प्रतीहि न प्रतीयन्ती यदि तवेमे न मम रोदनशीलायाः ।
पृष्ठस्य बाष्पबिन्दवः पुलकोद्भेदेन भिद्यमानाः ॥]

खलका वचन छोड़कर मेरा विश्वास करो, यदि पीठके बल गिरे हुए रोदनशील तुम्हारे अश्रुबिन्दु मेरे पुलकोद्गम द्वारा भिन्न न हो जायँ तो तुम मेरे अनुरागमें विश्वास मत करना ॥ १६ ॥

तं मित्तं काअव्वं जं किर वसणम्मि देसआलम्मि ।
आलिहिअभित्तिवाउल्लअं व ण परम्मुहं ठाइ ॥ १७ ॥

[तन्मित्रं कर्तव्यं यत्किल व्यसने देशकालेषु ।
आलिखितभित्तिपुत्तलकमिव न पराङ्मुखं तिष्ठति ॥]

जो मित्र उपयुक्त देश एवं कालमें व्यसन उपस्थित होनेपर भित्तिपर आलिखित पुत्तलिकाके समान पराङ्मुख हो खड़ा नहीं होता, ऐसा ही मित्र बनाने योग्य है ॥ १७ ॥

बहुआइ णइणिउञ्जे पढमुग्गअसीलखण्डणविलक्खं ।
उड्डेइ विहंगउलं हाहा पक्खेहिँ व भणन्तं ॥ १८ ॥
[वध्वा नदीनिकुञ्जे प्रथमोद्गतशीलखण्डनविलक्षम् ।
उड्डीयते विहंगकुलं हा हा पक्षैरिव भणत् ॥]

निर्जन नदीतटस्थित निकुञ्जमें वधूके प्रथम संवर्धित शीलभङ्गसे लज्जित हो पंख संचालनद्वारा ही जैसे 'हा हा' करते-करते पक्षी उड़ गए ॥ १८ ॥

सच्चं भणामि बालअ णत्थि असक्कं वसन्तमासस्स ।
गन्धेण कुरवआणं मणं पि असइत्तणं ण गआ ॥ १९ ॥
[सत्यं भणामि बालक नास्त्यशक्यं वसन्तमासस्य ।
गन्धेन कुरबकाणां मनागप्यसतीत्वं न गता ॥]

अरे बालक, सच ही कह रहा हूँ कि वसन्त मासकेलिए अकरणीय कार्य कोई भी नहीं है, तथापि कुरबककुसुमके गन्धसे वह रमणी ईषद् असतीत्वको भी प्राप्त नहीं हुई ॥ १९ ॥

एक्केक्कमवइवेढणविवरन्तरदिण्णतरलणअणाए ।
तइ वोलन्ते बालअ पञ्जरसउणाइअं तीए ॥ २० ॥
[एकैकवृतिवेष्टनविवरान्तरदत्ततरलनयनया ।
त्वयि व्यतिक्रान्ते बालक पञ्जरशकुनायितं तया ॥]

हे बालक, तुम चले गए, एक-एक क्रमसे वृतिवेष्टनके समस्त विवरान्तरमें तरल नेत्र प्रदानकर तुम्हें देखनेकेलिए वह रमणी पिंजरेमें स्थित पक्षिणी जैसा आचरण कर रही थी ॥ २० ॥

ता किं करेउ जइ तं सि तीअ वइवेढपेल्लिअथणीए ।
पाअङ्गुट्ठद्धक्खित्तणीसहङ्गीअ वि ण दिट्ठो ॥ २१ ॥
[तत्किं करोतु यदि त्वमसि तया वृतिवेष्टनप्रेरितस्तनया ।
पादाङ्गुष्ठार्धक्षिप्तनि:सहाङ्ग्यापि न दृष्टः ॥]

वृतिवेष्टनके ऊपर दोनों स्तनोंको स्थापितकर, पैरके आधे अँगूठेसे निःसह अवस्थापूर्वक खड़ी होनेपर भी, यदि वह रमणी तुम्हें न देखे तो, वह और क्या कर सकती है ? ॥ २१ ॥

पिअसंभरणपलोट्टन्तबाहधाराणिवाअभीआए।
दिज्जइ वङ्कग्गीवाएँ दीवओ पहिअजाआए॥ २२ ॥
[प्रियसंस्मरणप्रलुठद्बाष्पधारानिपातभीतया।
दीयते वक्रग्रीवया दीपकः पथिकजायया ॥]

प्रियतमका स्मरण आनेपर नयनमें छलके बाष्पधाराके दीपकपर गिरनेके आशङ्क भयसे भीत हो, पथिकजाया ग्रीवाको टेढ़ाकर सान्ध्यदीप जला रही है ॥

तइ वोलन्ते बालअ तिस्सा अङ्गाइँ तह णु वलिआइं।
जह पुट्ठिमज्झणिवडन्तबाहधाराओं दीसन्ति ॥ २३ ॥
[त्वयि व्यतिक्रामति बालक तस्या अङ्गानि तथा नु वलितानि।
यथा पृष्ठमध्यनिपतद्बाष्पधारा दृश्यन्ते ॥]

हे बालक, तुम्हारे चले जानेके समय, तुम्हें देखनेके लिए उसने अपने अङ्गोंको इस प्रकार विचलित एवं परिवृत्त किया था कि ऐसा लगा उसकी बाष्पधारा उसकी पीठके ऊपर ही गिरी ॥ २३ ॥

ता मज्झिमो च्चिअ वरं दुज्जणसुअणेहिँ दोहिँ वि ण कज्जं।
जह दिट्ठो तवइ खलो तहेअ सुअणो अईसन्तो ॥ २४ ॥
[तन्मध्यम एव वरं दुर्जनसुजनाभ्यां द्वाभ्यामपि न कार्यम्।
यथा दृष्टस्तापयति खलस्तथैव सुजनोऽदृश्यमानः ॥]

दुर्जन एवं सज्जन इन दोनोंसे मेरा कोई प्रयोजन नहीं, मध्यम वर्गका व्यक्ति ही हमारे लिए श्रेष्ठ है कारण, खल वा दुर्जन दिखायी पड़ते ही जैसा संताप उत्पन्न करते हैं, वैसा ही सज्जन भी अदृश्य होते ही करते हैं ॥ २४ ॥

अद्धच्छिपेच्छिअं मा करेहि साहाविअं पलोएहि।
सो वि सुदिट्ठो होहिइ तुमं पि मुद्धा कलिज्जिहिसि ॥ २५ ॥
[अर्धाक्षिप्रेक्षितं मा कुरु स्वाभाविकं प्रलोकय।
सोऽपि सुदृष्टो भविष्यति त्वमपि मुग्धा कलयिष्यसे ॥]

कटाक्षद्वारा मत देखना, स्वाभाविक दृष्टिसे ताकना, इससे वह भी अच्छी प्रकार दिखायी पड़ेगा एवं लोग तुम्हें भी कटाक्षमें असमर्थ 'मुग्धा' गिनेंगे ॥ २५ ॥

दिनहं खुडक्किआए तीए काऊण गेहवावारं ।
गरुए वि मण्णुदुक्खे भरिमो पाअन्तसुत्तस्स ॥ २६ ॥
[दिवस रोषमूकायास्तस्याः कृत्वा गेहव्यापारम् ।
गुरुकेऽपि मन्युदुःखे स्मराम पादान्तसुप्तस्य ॥]

सारे दिन घरके काम-काजमें लगे रहकर रोषसे मौन बनी मेरी प्रिय कामिनीका विरहक्लेश अत्यन्त भारी होनेपर भी, अपने पादान्तमें उसके शयनकी बात स्मरण करता हूँ ॥ २६ ॥

पाणउडीअ वि जलिऊण हुअवहो जलइ जण्णवाडम्मि ।
ण हु ते परिहरिअव्वा विसमदसासंठिआ पुरिसा ॥ २७ ॥
[पानकुट्यामपि ज्वलित्वा हुतवहो ज्वलति यज्ञवाटेऽपि ।
न खलु ते परिहर्तव्या विषमदशासंस्थिताः पुरुषाः ॥]

मद्यपानकुटीमें प्रज्वलित होकर भी अग्नि यज्ञ वेदीमें भी प्रज्वलित होती है। विषम अवस्थामें स्थित वैसे पुरुषोंका भी कभी त्याग नहीं करना चाहिए ॥२७॥

जं तुज्झ सई जाआ असईओ जं च सुहअ अम्हे वि ।
ता किं फुट्टउ बीअं तुज्झ समाणो जुआ णत्थि ॥ २८ ॥
[यत्तव सती जाया असत्यो यच्च सुभग वयमपि ।
तत्किं स्फुटतु बीजं तव समानो युवा नास्ति ॥]

हे सुभग, तुम्हारी जाया तो सती है और मेरी असती, इसका मूल कारण क्या प्रकट होता है ? तुम्हारे समान युवक कोई नहीं है, क्या यही कारण नहीं है ? ॥ २८ ॥

सव्वस्सम्मि वि दड्ढे तहवि हु हिअअस्स णिव्वुदि च्चेअ ।
जं तेण गामडाहे हत्थाहत्थिं कुडो गहिओ ॥ २९ ॥
[सर्वस्वेऽपि दग्धे तथापि खलु हृदयस्य निर्वृतिरेव ।
यत्तेन ग्रामदाहे हस्ताहस्तिकया कुटो गृहीतः ॥]

गाँवके जलने में सबकुछ जल जानेपर भी मेरे हृदयमें अत्यन्त सुख अनुभूत हो रहा था, कारण, उसने मेरे हाथसे अपने हाथ में घड़ा ग्रहण किया था ॥ २९ ॥

जाएज्ज वणुद्देसे खुज्जो वि हु णीसाहो झडिअपत्तो ।
मा माणुसम्मि लोए ताई रसिओ दरिद्दो अ ॥ ३० ॥

[जायतां वनोद्देशे कुब्जोऽपि खलु निःशाखः शिथिलपत्रः ।
मा मानुषे लोके त्यागी रसिको दरिद्रश्च ॥]

वनभूमिमें शाखाशून्य एवं गलितपत्र कुब्जवृक्ष यदि उत्पन्न होता है तो हो, किन्तु मानवलोकोंमें त्यागशील एवं रसिकजन कहीं दरिद्र न हों ॥ ३० ॥

तस्स अ सोहग्गगुणं अमहिलसरिसं च साहसं मज्झ ।
जाणइ गोलाऊरो वासारत्तोद्धरत्तो अ ॥ ३१ ॥

[तस्य च सौभाग्यगुणममहिलासदृशं च साहसं मम ।
जानाति गोदापूरो वर्षारात्रार्धरात्रश्च ॥]

गोदावरीका प्रचण्ड जलप्रवाह एवं वर्षाकालकी सघन रात्रि और आधी रातमें उसके सौभाग्यकी बात एवं मेरे अमहिला सदृश साहसकी बात जानते हैं ॥ ३१ ॥

ते वोलिआ वअस्सा ताण कुडङ्गाण थाणुआ सेसा ।
अह्मे वि गअवआओ मूलुच्छेअं गअं पेम्मं ॥ ३२ ॥

[ते व्यतिक्रान्ता वयस्यास्तेषां कुञ्जानां स्थाणवः शेषाः ।
वयमपि गतवयस्का मूलोच्छेदं गतं प्रेम ॥]

वे सारे वयस्क चले गए हैं, उन कुञ्जोंमें ठूंठसमूह ही शेष रह गया है । मुझ विगतवयस्काके भी प्रेमका मूलोच्छेद हो गया है ॥ ३२ ॥

थणजहणणिअम्बोवरि णहरङ्का गअवआण वणिआणं ।
उव्वसिअणङ्गणिवासमूलबन्ध व्व दीसन्ति ॥ ३३ ॥

[स्तनजघननितम्बोपरि नखराङ्का गतवयसां वनितानाम् ।
उद्वसितानङ्गनिवासमूलबन्धा इव दृश्यन्ते ॥]

गतवयस्का वनिताओंके स्तन, जघन एवं नितम्बप्रदेशके ऊपर नायकका नखचिह्नसमूह मानो शून्यीकृत मदननिवासके मूलबन्धनके चिह्नस्वरूप विराजते हैं ॥ ३३ ॥

जस्स जहं विअ पढमं तिस्सा अङ्गम्मि णिवडिआ दिट्ठी ।
तस्स ताहिं चेअ ठिआ सव्वङ्गं केण वि ण दिट्ठं ॥ ३४ ॥

[यस्य यत्रैव प्रथमं तस्या अङ्गे निपतिता दृष्टिः ।
तस्य तत्रैव स्थिता सर्वाङ्गं केनापि न दृष्टम् ॥]

उस नायिकाके जिस अङ्गपर जिसकी दृष्टि प्रथमतः पड़ गयी है, उसी अङ्गमें

उसकी दृष्टि गड़ गयी है, इसी कारण, कोई उसके सारे अङ्गोंको नहीं देख सका है ॥ ३४ ॥

विरहे विसं व विसमा अमअमआ होइ संगमे अहिअं ।
किं विहिणा समअं विअ दोहिं वि पिआ विणिम्मिअआ ॥ ३५ ॥
[विरहे विषमिव विषमाऽमृतमया भवति सङ्गमेऽधिकम् ।
किं विधिना सममेव द्वाभ्यामपि प्रिया विनिर्मिता ॥]

प्रिया विरहावस्थामें विषके समान विषमा एवं सङ्गममें आत्यधिक अमृतमयी प्रतीत होती है, तब क्या विधाताने इनदोनों वस्तुओंद्वारा समान भावसे ही उसका निर्माण किया है ॥ ३५ ॥

अद्दंसणेण पुत्तअ सुट्ठु वि णेहाणुबन्धघडिआइं ।
हत्थउडपाणिआइं व कालेण गलन्ति पेम्माइं ॥ ३६ ॥
[अदर्शनेन पुत्रक सुष्ठ्वपि स्नेहानुबन्धघटितानि ।
हस्तपुटपानीयानीव कालेन गलन्ति प्रेमाणि ॥]

हे पुत्रक, हस्ताञ्जलिस्थित जल जिसप्रकार समय पाकर गलित हो जाता है, उसीप्रकार स्नेहानुबन्धमें सुष्ठु संघटित प्रेम भी बहुत दिनतक न दिखायी पड़नेके फलस्वरूप विलुप्त हो जाता है ॥ ३६ ॥

पइपुरओ व्विअ णिज्जइ विच्छुअदट्ठेत्ति जारवेज्जहरं ।
णिउणसहीकरधारिअ भुअजुअलन्दोलिणी बाला ॥ ३७ ॥
[पतिपुरत एव नीयते वृश्चिकदष्टेति जारवैद्यगृहम् ।
निपुणसखीकरधृता भुजयुगलान्दोलनशीला बाला ॥]

वृश्चिक दंशनसे कातर होनेके बहाने यह बाला पतिके समीपसे ही चतुर सखियों द्वारा इस अवस्थामें ही भुजयुगलको आन्दोलित करते-करते जारवैद्यके घर ले जायी जारही है ॥ ३७ ॥

विक्किणइ माहमासम्मि पामरो पाइडिं बइल्लेण ।
णिद्धूममुम्मुरच्चिअ सामलीअ थणो पडिच्छन्तो ॥ ३८ ॥
[विक्रीणीते माघमासे पामरः प्रावरणं बलीवर्देन ।
निर्धूममुर्मुरनिभौ श्यामलायाः स्तनौ पश्यन् ॥]

माघके महीनेमें पामरजन, धूमरहित धानकी भूसीकी अग्निके समान

उष्णतादायक श्यामाके स्तनद्वयकी प्रतीक्षाकर, बैल खरीदनेकी आशामें अपनी शीतनिवारणकी सामग्रीभी बेंचडालता है ॥ ३८ ॥

सच्चं भणामि मरणे ट्ठिअह्मि पुण्णे तडम्मि तावीए।
अज्ज वि तत्थ कुडङ्गे णिवडइ दिट्ठी तह च्चेअ ॥ ३९ ॥
[सत्यं भणामि मरणे स्थितास्मि पुण्ये तटे ताप्याः ।
अद्यापि तत्र निकुञ्जे निपतति दृष्टिस्तथैव ॥]

सचही कहरहा हूँ कि मरणपथपर सन्निहित अवश्यहो गयी हूँ, किन्तु आज भी तापीनदीके पुण्यतटपर स्थित उस निकुञ्जकीओर मेरी दृष्टि उसी भावसे पड़रही है ॥ ३९ ॥

अन्धअरबोरपत्तं व माउआ मह पइं विलुम्पन्ति ।
ईसाअन्ति अहं विअ छेप्पाहिन्तो फणो जाओ ॥ ४० ॥
[अन्धकारबदरपात्रमिव मातरो मम पतिं विलुम्पन्ति ।
ईर्ष्यन्ति मह्यमेव लाङ्गूलेभ्यः फणो जातः ॥]

हे माताओ, अन्धेके हाथमें स्थित बेरपात्रकी भाँति मेरे पतिके प्रेमको ये असती लूटले जारही हैं एवं मेरे प्रति ईर्ष्यापरायण बनरही हैं, मानो पुच्छसे ही फणकी उत्पत्ति होती है (अर्थात् दबाने योग्य पुच्छही फणरूप से दबाक हुई) ॥ ४० ॥

अप्पत्तपत्तअंपाविऊण णवरङ्गअं हलिअसोण्हा ।
उअह तणुई ण माअइ रुन्दासु वि गामरच्छासु ॥ ४१ ॥
[अप्राप्त प्राप्त प्राप्य नवरङ्गकं हलिकस्नुषा ।
पश्यत तन्वी न माति विस्तीर्णास्वपि ग्रामरथ्यासु ॥]

तुमलोग देखो, अलभ्यलाभकुसुम्भवस्त्र पाकर ही हालिक पुत्रवधू स्वत तन्वाकृतिहोकर भी विस्तीर्ण ग्राम मार्गोंपर अपनेको सन्तुलित नहीं रख पा रही है ॥ ४१ ॥

आक्खेवआइँ पिअजम्पिआइँ परहिअअणिव्वुदिअराइँ ।
विरलो ■ जाणइ जणो उप्पण्णे जम्पिअव्वाइ ॥ ४२ ॥
[वाक्क्षेपकाणि प्रियजल्पितानि परहृदयनिर्वृतिकराणि ।
विरल खलु जानाति जन उत्पन्ने जल्पितव्यानि ॥]

प्रयोजन उपस्थित होनेपर वक्तव्य, प्रतिवादीकेलिए निन्दासूचक, फिर

जिविअं असासअं चिअ ण णिवत्तइ जोव्वणं अतिकन्तं ।
दिअहा दिअहेहिँ समा ण होन्ति किं णिठ्ठुरो लोओ ॥ ४७ ॥

[जीवितमशाश्वतमेव न निवर्तते यौवनमतिक्रान्तम् ।
दिवसा दिवसैः समा न भवन्ति किं निष्ठुरो लोकः ॥

मानव जीवन तो अनित्य है, यौवन एकबार चले जानेपर लौटकर नहीं आता, सभी दिन समान नहीं होते, फिर भी लोग निठुर क्यों हैं ? यह कहा नहीं जा सकता ॥ ४७ ॥

उप्पाइअदव्वाणँ वि खलाणँ को भाअणं खलो च्चेअ ।
पक्काइँ वि णिम्बफलाइँ णवरँ काएहिँ खज्जन्ति ॥ ४८ ॥

[उत्पादितद्रव्याणामपि खलानां को भाजनं खल एव ।
पक्वान्यपि निम्बफलानि केवलं काकैः खाद्यन्ते ॥]

जो द्रव्योपार्जनमें समर्थ हैं, उन खलोंका दान-पात्र कौन हो सकता है— केवल खल । निम्बफलके पकनेपर भी केवल कौए ही उसका आस्वादन करते हैं ॥ ४८ ॥

अज्ज मए गन्तव्वं घणन्धआरे वि तस्स सुहअस्स ।
अज्जा णिमीलिअच्छी पअपरिवाडिं घरे कुणइ ॥ ४९ ॥

[अद्य मया गन्तव्यं घनान्धकारेऽपि तस्य सुभगस्य ।
आर्या निमीलिताक्षी पदपरिपाटिं गृहे करोति ॥]

आज घने अन्धकारमें भी मुझे उस सुभगके पास अभिसारकेलिए जाना पड़ेगा, यह सोचकर आर्या आँख मूँदकर घरमें ही पादचारीका अभ्यासकर रही है ॥ ४९ ॥

सुअणो ण कुप्पइ च्चिअ अह कुप्पइ विप्पिअं ण चिन्तेइ ।
अह चिन्तेइ ण जम्पइ अह जम्पइ लज्जिओ होइ ॥ ५० ॥

[सुजनो न कुप्यत्येव अथ कुप्यति विप्रियं न चिन्तयति ।
अथ चिन्तयति न जल्पति लज्जितो भवति ॥]

सुजन कभी कुपित नहीं होते, कुपित होनेपरभी अप्रियआचरणकी कभी चिन्ता नहीं करते, चिन्ता करते भी हैं तो वह मुखसे प्रकाशित नहीं होता, प्रकाशित करते भी हैं तो लज्जित होते हैं ॥ ५० ॥

सो अत्थो जो हत्थे तं मित्तं जं णिरन्तरं वसणे ।
तं रूअं जत्थ गुणा तं विण्णाणं जहिं धम्मो ॥ ५१ ॥

[सोऽर्थो यो हस्ते तन्मित्रं यन्निरन्तरं व्यसने ।
तद्रूपं यत्र गुणास्तद्विज्ञानं यत्र धर्मः ॥]

वही वास्तविक अर्थ है जो हस्तगत हो गया है, वही मित्र है जो व्यसनमें निरन्तर समीप रहे, वही रूप है जिसमें गुणोंका संयोगभी हो, एवं वही विज्ञान है जिसमें धर्मभी रहे ॥ ५१ ॥

चन्दमुहि चन्दधवला दीहा दीहच्छि तुह विओअम्मि ।
घउजामा सअजाम व्य जामिणी कहँ वि घोलीणा ॥ ५२ ॥
[चन्द्रमुखि चन्द्रधवला दीर्घा दीर्घाक्षि तव वियोगे ।
चतुर्यामा शतयामेव यामिनी कथमप्यतिक्रान्ता ॥]

हे शशिवदने, दीर्घलोचने, तुम्हारे विरह में चन्द्रधवल दीर्घ एवं चातुर्याम विशिष्ट होनेपर भी शतयामपरिमित रूपमें प्रतिभासित यामिनीको मैंने किस प्रकार बिताया है ? ॥ ५२ ॥

अउलीणो दोमुहओ ता महुरो भोअणं मुहे जाव ।
मुरओ व्व खलो जिण्णम्मि भोअणे विरसमारसइ ॥ ५३ ॥
[अकुलीनो द्विमुखस्तावन्मधुरो भोजनं मुखे यावत् ।
मुरज इव खलो जीर्णे भोजने विरसमारसति ॥]

जब तक मुखमें भोजन प्राप्य रहता है, तभी तक अकुलीन द्विमुख खलगण मृदङ्गकी नाईं मधुर बातें करते हैं, किन्तु भोज्य वस्तुके जीर्ण होजानेपर विरस बातों में निन्दा आदि करते हैं ॥ ५३ ॥

तह सोण्हाइ पुलइओ दरवलिअद्धतारअं पहिओ ।
जह वारिओ वि घरसामिएण ओलिन्दए वसिओ ॥ ५४ ॥
[तथा स्नुषया प्रलोकितो दरवलितार्धतारकं पथिकः ।
यथा वारितोऽपि गृहस्वामिना अलिन्दके सुप्त ॥]

आँखके आधे तारेको थोड़ा बल देकर गृहस्थकी पुत्रवधूने पथिकको इस प्रकार देखा है कि गृहस्वामीद्वारा वर्जितहोकरभी वह गृहके अलिन्दमेंही वास करने लगा ॥ ५४ ॥

लहुअन्ति लहुं पुरिसं पव्वअमेत्तं पि दो वि कज्जाइं ।
णिव्वरणमणिव्वूढे णिव्वूढे जं अ णिव्वरं ॥ ५५ ॥

[लघयतो लघु पुरुषं पर्वतमात्रमपि द्वे अपि कार्ये ।
निर्वहणमनिर्व्यूढे निर्व्यूढे यच्च निर्वहणम् ॥]

पर्वतके समान उन्नत व्यक्तिको भी दो कार्य शीघ्र ही लघुकर डालते हैं—(प्रथम) कार्यके अनिष्पन्न होनेपरभी आत्मगुणोंका निवेदन एवं (द्वितीय) कार्यके निष्पन्न होनेपरभी आत्मश्लाघाका निवेदन ॥ ५५ ॥

कं तुङ्गथणुक्खित्तेण पुत्ति दारट्ठिआ पलोएसि ।
उण्णामिअकलसणिवेसिअग्घकमलेण व मुहेण ॥ ५६ ॥
[कं तुङ्गस्तनोत्क्षिप्तेन पुत्रि द्वारस्थिता प्रलोकयसि ।
उन्नामितकलशनिवेशितार्घकमलेनेव मुखेन ॥]

हे पुत्रि, उन्नत कलशद्वयके ऊपर निवेशित पूजापद्मकी भाँति अपने तुङ्ग स्तनद्वयकेऊपर उल्लसितवदनको रख दरवाजेपर खड़ी होकर तुम किसको हेर रही हो ॥ ५६ ॥

वइविवरणिग्गअदलो एरण्डो साहइ व्व तरुणाणं ।
एत्थ घरे हलिअबहू एद्दहमेत्तत्थणी वसइ ॥ ५७ ॥
[वृतिविवरनिर्गतदल एरण्डः साधयतीव तरुणेभ्य ।
अत्रगृहे हलिकवधूरेतावन्मात्रस्तनी वसति ॥]

वेष्टनके छिद्रसे पत्र निकालकर एरण्डवृक्ष तरुणजनोंके निकट यह सूचितकर रहा है कि इस घरमें वृहद् स्तनान्वित हलिकवधू वासकर रही है ॥ ५७ ॥

गअकलह कुम्भसंणिहघणपीणणिरन्तरेहिँ तुङ्गेहिँ ।
उस्ससिउं पि ण तीरइ किं उण गन्तुं हअथणेहिँ ॥ ५८ ॥
[गजकलभकुम्भसंनिभघनपीननिरन्तराभ्यां तुङ्गाभ्याम् ।
उच्छ्वसितुमपि न तीरयति किं पुनर्गन्तु हतस्तनाभ्याम् ॥]

हस्तिशावकके कुम्भसदृश, घनसन्निविष्ट, पीन, निरन्तर एवं तुङ्ग स्तनद्वयके भारसे वह रमणी श्वास प्रश्वासका कार्य ही सम्पादित नहीं कर पारही है, जानेकी बात तो दूर रही ॥ ५८ ॥

मासपसूअं छम्मासगब्भिणिं एक्कदिअहजरिअं च ।
रङ्गुत्तिण्णं च पिअं पुत्तअ कामन्तओ होहि ॥ ५९ ॥
[मासप्रसूतां षण्मासगर्भिणीमेकदिवसज्वरितां च ।
रङ्गोत्तीर्णां च प्रियां पुत्रक कामयमानो भव ॥]

हे पुत्रक, मासमात्र प्रसूता, छह मास गर्भिणी, एक दिनके ज्वरसे आतुरा एवं रङ्गभूमिसे प्रत्यागता, इस प्रकार प्रियाओंके प्रति कामयमान होना ॥ ५९ ॥

पडिवक्खमण्णुपुञ्जे लावण्णउडे अणङ्गगअकुम्भे ।
पुरिससअहिअअधरिए कीस थणन्ती थणे वहसि ॥ ६० ॥
[प्रतिपक्षमन्युपुञ्जौ लावण्यकुटावनङ्गगजकुम्भौ ।
पुरुषशतहृदयधृतौ किमिति स्तनन्ती स्तनौ वहसि ॥]

सपत्नीरूप प्रतिपक्षके समस्तापविधायक, लावण्यकलश सदृश, मदन हस्तीके कुम्भ तुल्य एवं शतशत पुरुषोंके हृदयमें अभिलषित अपने स्तनद्वय किस कारण काँखने जैसे शब्दोंके साथ वहन कर रही हो ॥ ६० ॥

घरिणिघणत्थणपेल्लणसुहेल्लिपडिअस्स होन्तपहिअस्स ।
अवसउणङ्गारअवारविट्ठिदिअहा सुहावेन्ति ॥ ६१ ॥
[गृहिणीघनस्तनप्रेरणसुखकेलिपतितस्य भविष्यत्पथिकस्य ।
अपशकुनाङ्गारकवारविष्टिदिवसाः सुखयन्ति ॥]

गृहिणीके स्थूलस्तनपीडनजनित सुखकेलिमें निमग्न अचिर भविष्यमें प्रवासगामी नायकके पक्षमें शकुनशास्त्र विरोधी मङ्गलवार एवं भद्रादोषमें अशुभ दिवस यात्राविरोधी होनेके कारण सुखदायक प्रतीत होते हैं ॥ ६१ ॥

सा तुह कएण बालअ अणिसं घरदारतोरणणिसण्णा ।
ओससइ वन्दणमालिअ व्व दिअहं विअ वराई ॥ ६२ ॥
[सा तव कृतेन बालकानिशं गृहद्वारतोरणनिषण्णा ।
अवशुष्यति वन्दनमालिकेव दिवसमेव वराकी ॥]

हे बालक, तुम्हारे आगमनकी प्रतीक्षामें वह दीना नायिका सर्वदा वन्दनमालिकाकी भाँई गृहद्वारके तोरणपर बैठी रहकर एक दिनमें ही शुष्क होती जा रही है ॥ ६२ ॥

हसिअं सहत्थतालं सुक्खवडं उवगएहिं पहिएहिं ।
पत्तअफलाणँ सरिसे उड्डीणे सूअविन्दम्मि ॥ ६३ ॥
[हसितं सहस्ततालं शुष्कवटमुपगतैः पथिकैः ।
पत्रफलानां सदृशे उड्डीने शुकवृन्दे ॥]

शुष्क वटवृक्षके तले उपस्थित पथिक, पत्र एवं फलके समान शुकोंके उड़ जानेपर, हाथ से ताली बजाकर हँसे थे ॥ ६३ ॥

अज्ज म्हि हासिआ मामि तेण पाएसु तह्पडन्तेण ।
तीए वि जलन्ति दीववत्तिमब्भुण्णअन्तीए ॥ ६४ ॥
[अद्यास्मि हासिता मातुलानि तेन पादयोस्तथा पतता ।
तयापि ज्वलन्तीं दीपवर्तिमभ्युत्तेजयन्त्या ॥]

हे मामी, आज सखीके चरणोंपर उसी प्रकार गिर कर उस नायकने एवं जलती हुई दीपवर्तिकाको समधिक वर्धितकर सखीने मुझे खूब हँसाया है ॥६४॥

अणुवत्तणं कुणन्तो वेसे वि जणे अहिण्णमुहराओ ।
अप्पवसो वि हु सुअणो परव्वसो आहिआईए ॥ ६५ ॥
[अनुवर्तनं कुर्वन्द्वेष्येऽपि जनेऽभिन्नमुखरागः ।
आत्मवशोऽपि खलु सुजनः परवशः कुलीनतायाः ॥]

मुखराग अपरिवर्तित रखकर सुजन अप्रियजनके अनुवर्तन करनेपर यही समझा जायगा कि वह आत्मवश होनेपर भी कभी कुलीनताका भी वशवर्ती हो सकता है ॥ ६५ ॥

अणुदिमहवड्ढिआअरविण्णाणगुणेहिँ जणिअमाहप्पो ।
पुत्तअ अहिआअजणो विरज्जमाणो वि दुल्लक्खो ॥ ६६ ॥
[अनुदिवसवर्धितादरविज्ञान गुणैर्जनित माहात्म्यः ।
पुत्रकाभिजातजनो विरज्यमानोऽपि दुर्लक्ष्यः ॥] .

हे पुत्रक, प्रतिदिन संवर्द्धित आदरसमन्वित विज्ञानगुणद्वारा अपने माहात्म्यको प्रकाशितकर सत्कुल जात महिलायें वर्जित होनेपरभी सदूर ही अतिकष्टमें दिखती हैं ॥ ६६ ॥

विण्णाणगुणमहग्घे पुरिसे वेसत्तणं पि रमणिज्जं ।
जणणिन्दिए उण जणे पिअत्तणेणावि लज्जामो ॥ ६७ ॥
[विज्ञानगुणमहार्घे पुरुषे द्वेष्यत्वमपि रमणीयम् ।
जननिन्दिते पुनर्जने प्रियत्वेनापि लज्जामहे ॥]

विज्ञानगुणमें अत्यन्त आदरणीय व्यक्तिके मेरेप्रति द्वेष्यभाव रखने पर भी यह रमणीय है, किन्तु संसार जिसकी निन्दा करता है, ऐसे व्यक्तिका प्रियत्व पानेपर भी मैं लज्जित होती हूँ ॥ ६७ ॥

कइँ माए सीअलइ सो सहावगुरुओ वि यणहरो पडिओ ।
अहवा महिलाणँ चिरं को [illegible] ण हिअअम्मि संठाइ ॥६८॥

[कथं नाम तस्यास्तथा स स्वभावगुरुकोऽपि स्तनभरः पतितः ।
अथवा महिलानां चिरं कोऽपि न हृदये संतिष्ठते ॥]

उस नायिकाके उतने स्वभावगुरु स्तनभार किसप्रकार अवनत हुए ? अथवा महिलाओंके हृदयमें कोई चिरकालतक टिका नहीं रह सकता ॥ ६८ ॥

सुअणु वअणं छिप्पन्तं सूरं मा साउलीअ वारेहि ।
एअस्स पङ्कअस्स अ जाणउ कअरं सुहप्फंसं ॥ ६९ ॥

[सुतनु वदनं स्पृशन्तं सूर्यं मा वस्त्राञ्चलेन वारय ।
एतस्य पङ्कजस्य च जानातु कतरत्सुखस्पर्शम् ॥]

हे सुतनु, अपने वदनको स्पर्शकरनेवाले सूर्यको तुम वस्त्राञ्चल द्वारा रोकना मत, तुम्हारे वदन और कमलमें किसका स्पर्श अधिक सुखद है, यह सूर्यको जानलेने दो ॥ ६९ ॥

माणोसहं व पिज्जइ पिआइ माणंसिणीअ दइअस्स ।
करसंपुडवलिउद्धाणणाइ मइराइ गण्डूसो ॥ ७० ॥

[मानौषधमिव पीयते प्रियया मनस्विन्या दयितस्य ।
करसंपुटवलितोर्ध्वाननया मदिराया गण्डूषः ॥]

प्रियतमकि करसम्पुट द्वारा ऊपर उठाये गए मुखवाली मनस्विनी प्रिया प्रियतमनदत्त मदिरागण्डूषको मान दूर करनेकी औषधिरूप में पी रही है ॥७०॥

कहँ सा णिव्वण्णिज्जइ जीअ जहा लोइअम्मि अङ्गम्मि ।
दिट्ठी दुब्बलगाइ व्व पङ्कपडिआ ण उत्तरइ ॥ ७१ ॥

[कथं सा निर्वर्ण्यतां यस्या यथालोकितेऽङ्गे ।
दृष्टिर्दुर्बला गौरिव पङ्कपतिता नोत्तरति ॥]

जिस रमणीके जिस अङ्गपर जिस किसीकी दृष्टि पड़ जाती है, वहाँसे पङ्कपतिता दुर्बल गायकी भाँति वह फिर ऊपर नहीं उठती, उसके समग्र सौन्दर्यका वर्णन किस प्रकार हो सकता है ? ॥ ७१ ॥

कीरन्ती च्चिअ णासइ उअए रेह व्व खलअणे मेत्ती ।
सा उण सुअणम्मि कआ अणहा पाहाणरेह व्व ॥ ७२ ॥

[क्रियमाणैव नश्यत्युदके रेखेव खलजने मैत्री ।
सा पुनः सुजने कृता अनघा पाषाणरेखेव ॥]

खलोंमें स्थापित की जानेवाली मैत्री जलमें खींची गयी रेखाकी भाँति लुप्त हो जाती है, किन्तु वही मैत्री सुजनमें स्थापित होने पर पाषाणमें खींची गयी क्षतिविहीन रेखाकी भाँति स्थायी होती है ॥ ७२ ॥

अव्वो दुक्करआरअ पुणो वि तन्ति करेसि गमणस्स ।
अज्ज वि ण होन्ति सरला वेणीअ तरङ्गिणो चिउरा ॥ ७३ ॥
[अव्वो दुष्करकारक पुनरपि चिन्ता करोषि गमनस्य ।
अद्यापि न भवन्ति सरला वेण्यास्तरङ्गिणश्चिकुराः ॥]

हे दुष्करकर्मकारक, यह अत्यन्त कष्टका विषय है कि तुम पुनः प्रवासमें जानेकी सोचरहे हो, आज तक हमारी वेणीके तरङ्गायित केशसमूह सीधे नहीं हुए ॥ ७३ ॥

ण वि तह छेअरआइँ वि हरन्ति पुणरुत्तराअरसिआइं ।
जह जत्थ व तत्थ व जह व तह व सब्भावणेहरमिआइं ॥ ७४ ॥
[नापि तथा छेकरतान्यपि हरन्ति पुनरुक्तरागरसिकानि ।
यथा यत्र वा तत्र वा यथा वा तथा वा सद्भावस्नेहरमितानि ॥]

विदग्धजनोंके बारबार आचरित अनुरागरसमें पूर्णरमणभी मनका उतना हरण नहीं करता, जितना जहाँ-तहाँ, जिस-तिस भावसे आचरित सद्भाव एवं स्नेहविशिष्ट रमण करता है ॥ ७४ ॥

उज्झसि पिआइ समअं तह वि हु रे भणसि कीस किसिअं त्ति ।
उवरिभरेण अ अण्णुअ मुअइ वइल्लो वि अङ्गाइं ॥७५॥
[उह्यसे प्रियया समं तथापि खलु रे भणसि किमिति कृशेति ।
उपरि भरेण च हे अज्ञ मुञ्चति बलीवर्दोऽप्यङ्गानि ॥]

तुम्हारी अपनी नूतन प्रिया के साथ तुम्हें अपने चित्तपर ढो रही हूँ । अरे, फिर भी तुम पूछ रहे हो कि 'मैं कृशा क्यों होती जा रही हूँ' । हे अज्ञ, ऊपर भार लाददेनेपर बैलभी शरीरत्याग करडालता है ॥ ७५ ॥

दिढमूलबन्धगण्ठि व्व मोइआ कहँ वि तेण मे बाहू ।
अम्हेहिँ वि तस्स उरे खुत्त व्व समुक्खआ थणआ ॥ ७६ ॥
[दृढमूलबन्धग्रन्थी इव मोचितौ कथमपि तेन मे बाहू ।
अस्माभिरपि तस्योरसि निखाताविव समुत्खातौ स्तनौ ॥]

उस नायकने अत्यन्तकष्टसे मेरे दृढ़भावसे मूलबन्धग्रन्थिमें ग्रथित दोनों बाहुओंको छोड़ा था, एवं मैंने भी किसी प्रकार उसके वक्ष-स्थलके ऊपर उभड़े हुए स्तनद्वय को छोड़ दिया है ॥ ७६ ॥

अणुणअपसाइआए तुज्झ वराहे चिरं गणन्तीए ।
अपहुत्तोहअहत्थङ्गुलीअ तीए चिरं रुण्णं ॥ ७७ ॥
[अनुनयप्रसादितया तवापराधाश्चिरं गणयन्त्या ।
अप्रभूतोभयहस्ताङ्गुल्या तया चिरं रुदितम् ॥]

मेरे अनुनयसे प्रसन्न होकर भी वह बहुत देरतक तुम्हारे अपराधोंकी गणना करते-करते, दोनों हाथोंकी अङ्गुलियोंको असमर्थ जान बहुत देर रोयी थी ॥ ७७ ॥

सेअच्छलेण पेच्छह तणुए अङ्गम्मि से अमाअन्तं ।
लावण्णं ओसरइ व्व तिवलिसोवाणवत्तीए ॥ ७८ ॥
[स्वेदच्छलेन पश्यत तनुकेऽङ्गे तस्या अमात् ।
लावण्यमपसरतीव त्रिवलीसोपानपंक्तिभिः ॥]

देखो, उस नायिकाका लावण्य, उसके कृश अङ्गमें समा न सकनेपर जैसे स्वेदके बहाने त्रिवली (उदरभागकी लम्बी रोमरेखा) रूप सोपानपंक्ति द्वारा उतर रहा है ॥ ७८ ॥

देव्वाअत्तम्मि फले किं कीरइ एत्तिअं पुणो भणिमो ।
कङ्केल्लिपल्लवाणं ण पल्लवा होन्ति सारिच्छा ॥ ७९ ॥
[दैवायत्ते फले किं क्रियतामियत्पुनर्भणामः ।
कङ्केल्लिपल्लवानां न पल्लवा भवन्ति सदृशाः ॥]

कारण, फल दैवाधीन है, अतः इस विषयमें और क्या किया जाय, किन्तु इतना कह सकती हूँ कि अशोकके पल्लवके सरीखे पल्लव नहीं होते ॥ ७९ ॥

धुअइ व्व मअकलङ्कं कवोलपडिअस्स माणिणी उअह ।
अणवरअवाहजलभरिअणअणकलसेहिँ चन्दस्स ॥ ८० ॥
[धावतीव मृगकलङ्कं कपोलपतितस्य मानिनी पश्यत ।
अनवरतबाष्पजलभृतनयनकलशाभ्यां चन्द्रस्य ॥]

देखो, मानिनी कपोलपर प्रतिबिम्बित चन्द्रके मृगरूप कलङ्कको अनवरत प्रवाही बाष्पजलसे पूर्ण नयनकलशद्वय द्वारा जैसे धो रही है ॥ ८० ॥

गन्धेण अप्पणो मालिआणँ णोमालिआ ण फुट्टिहइ।
अण्णो को वि हआसइ मंसलो परिमलुग्गारो ॥ ८१ ॥

[गन्धेनात्मनो मालिकानां नवमालिका न च्युता भविष्यति।
अन्यः कोऽपि हताशायाः मांसलः परिमलोद्गारः ॥]

अन्यान्य पुष्पोंके साथ मालिकामें स्थित नवमालिका पुष्प कभी भी अपने गन्धसे च्युत वा भ्रष्ट नहीं होता। इस हताशा पुष्पवधूसे किसी अन्य प्रकारका घना परिमल निकलता है ॥ ८१ ॥

फलसंपत्तीअ समोणआइँ तुङ्गाइँ फलविपत्तीए।
हिअआइ सुपुरिसाणं महातरूणं व सिहराइं ॥ ८२ ॥

[फलसंपत्या समवनतानि तुङ्गानि फलविपत्त्या।
हृदयानि सुपुरुषाणां महातरूणामिव शिखराणि ॥]

महावृक्षके शिखरकी भाँति सत्पुरुषोंका हृदय फल-सम्पत्तिसे अत्यन्त अवनत एवं फलविपत्तिसे उन्नत रहता है ॥ ८२ ॥

आसासेइ परिअणं परिवत्तन्तीअ पहिअजाआए।
णित्थाणुवत्तणे वलिअहत्थमुहलो वलअसद्दो ॥ ८३ ॥

[आश्वासयति परिजनं परिवर्तमानायाः पथिकजायायाः।
निःस्थामवर्तने वलितहस्तमुखरो वलयशब्दः ॥]

पथिककी जाया जब शय्याके ऊपर दुःसह भावसे करवट बदलती है, तब उसके संचलित हाथसे मुखर वलयका शब्द ही उसके जीवनके सम्बंधमें परिजनोंको आश्वासित करता है ॥ ८३ ॥

तुङ्गो च्चिअ होइ मणो मणंसिणो अन्तिमासु वि दसासु।
अत्थमणम्मि वि रइणो किरणा उद्धं च्चिअ फुरन्ति ॥ ८४ ॥

[तुङ्गमेव भवति मनो मनस्विनोऽन्तिमास्वपि दशासु।
अस्तमनेऽपि रवेः किरणा ऊर्ध्वमेव स्फुरन्ति ॥]

अन्तिम दशामें भी मनस्वीका मन उन्नत ही रहता है, अस्त-गमनके समय भी सूर्यकी किरणें ऊपर ही स्फुरित होती हैं ॥ ८४ ॥

पोट्टं भरन्ति सउणा वि माउआ अप्पणो अणुव्विग्गा।
विहलुद्धरणसहावा हुवन्ति जइ के वि सप्पुरिसा ॥ ८५ ॥

[उदरं बिभ्रति शकुना अपि हे मातर आत्मनोऽनुद्विग्नाः ।
विह्वलोद्धरणस्वभावा भवन्ति यदि केऽपि सत्पुरुषाः ॥]

हे माताओ, अन्यकी उदरपूर्तिकी चिन्ता किये बिना खग बिना किसी उद्वेगके अपना पेट भर लेते हैं किन्तु कोई यदि सत्पुरुष हो तो उसका स्वभाव दुर्गतजनोंके उद्धारमें संलग्न होता है ॥ ८५ ॥

ण विणा सब्भावेण घेप्पइ परमत्थजाणुओ लोओ ।
को जुण्णमज्जरं कञ्जिएण वेआरिउं तरइ ॥ ८६ ॥

[न विना सद्भावेन गृह्यते परमार्थज्ञो लोकः ।
को जीर्णमार्जारं काञ्जिकेन प्रतारयितुं शक्नोति ॥]

सद्भावके अतिरेकसे किसीको परमार्थज्ञ नहीं माना जाता । कौन बूढ़े बिडाल को केवल काञ्जिक (सिरकेसे भातके पानी) द्वारा ठग सकता है ? ॥ ८६ ॥

रण्णाउ तणं रण्णाउ पाणिअं सव्वअं सअंगाहं ।
तह वि मआणँ मईणँ अ आमरणन्ताइँ पेम्माइं ॥ ८७ ॥

[अरण्यात्तृणमरण्यात्पानीयं सर्वतः स्वयंग्राह्यम् ।
तथापि मृगाणां मृगीणां चामरणान्तानि प्रेमाणि ॥]

मृग मृगीको जङ्गलसे स्वतः प्राप्त तृण एवं जल ही ग्रहण करना पड़ता है । फिर भी मृग मृगीका प्रेम आजीवन स्थायी होता है ॥ ८७ ॥

तावमवणेइ ण तहा चन्दणपङ्को वि कामिमिहुणाणं ।
जह दूसहे वि गिम्हे अण्णोण्णालिङ्गणसुहेल्ली ॥ ८८ ॥

[तापमपनयति न तथा चन्दनपङ्कोऽपि कामिमिथुनानाम् ।
यथा दुःसहेऽपि ग्रीष्मे अन्योन्यालिङ्गनसुखकेलिः ॥]

जितना चन्दन भी कामियोंका ताप उतना दूर नहीं कर पाता, जितना ग्रीष्मकालमें भी पारस्परालिङ्गनरूप सुखकेलि दूर कर देता है ॥ ८८ ॥

तुप्पाणणा किणो चिट्ठसि त्ति पडिपुच्छिआएँ बहुआए ।
विउणावेढिअजहणत्थलाइ लज्जोणअं हसिअं ॥ ८९ ॥

[घृतलिप्तानना किमिति तिष्ठसीति परिपृष्टया वध्वा ।
द्विगुणावेष्टितजघनस्थलया लज्जावनतं हसितम् ॥]

'घी मुँहमें पोतकर क्यों बैठी हो', इस प्रकार पूछी जानेपर वधू पहलेकी अपेक्षा अपने अङ्गोंको दोहरा ढककर लज्जावनत मुखसे हँसने लगी ॥ ८९ ॥

हिअअ च्चेअ विलीणो ण साहिओ जाणिऊण घरसारं ।
बान्धवदुव्वअणं विअ दोहलओ दुग्गअवहूए ॥ ९० ॥
[हृदय एव विलीनो न कथितो ज्ञात्वा गृहसारम् ।
बान्धवदुर्वचनमिव दोहदो दुर्गतवध्वा ॥]

दुर्गत वधू अपने घरकी सामर्थ्य जानती है, इसीलिये गर्भवती अपनी इच्छा की बात, बान्धवोंके कुटिल वचनकी भाँति अपने हृदयमें ही रखती है, किसीको बताती नहीं ॥ ९० ॥

धावइ विअलिअधम्मिल्लसिचअसंजमणवावडकरग्गा ।
चन्दिलभअविवलाअन्तडिम्भपरिमग्गिणी घरिणी ॥ ९१ ॥
[धावति विगलितधम्मिल्लसिचयसंयमनव्यापृतकराग्रा ।
चन्दिलभयविपलायमानडिम्भपरिमार्गिणी गृहिणी ॥]

नाई के भय से भागनेवाले शिशुको खोजनेवाली गृहिणी अपने खुले हुए बालों एवं आँचलको संयमित करनेमें निरतहस्ता होकर दौड़ रही है ॥ ९१ ॥

जह जह उव्वहइ वहू णवजोव्वणमणहराइँ अङ्गाइं ।
तह तह से तणुआअइ मज्झो दइओ अ पडिवक्खो ॥ ९२ ॥
[यथा यथोद्वहते वधूर्नवयौवनमनोहराण्यङ्गानि ।
तथा तथा तस्यास्तनूयते मध्यो दयितश्च प्रतिपक्ष ॥]

वधू जैसे जैसे अपने नवयौवनसे मनोहर अङ्गोंका वहन करती है, वैसे ही वैसे उसकी कमर, प्रियजन एवं सभी शत्रु कृश होने लगते हैं ॥ ९२ ॥

जह जह जरापरिणओ होइ पई दुग्गओ विरूओ वि ।
कुलवालिआणँ तह तह अहिअअरं वल्लहो होइ ॥ ९३ ॥
[यथा यथा जरापरिणतो भवति पतिर्दुर्गतो विरूपोऽपि ।
कुलपालिकानां तथा तथाधिकतर वल्लभो भवति ॥]

पति जितना अधिक जराजीर्ण, दुर्गत एवं विरूप होता जाता है, कुलपालिका नारियोंके लिए उतना ही प्रिय होता चला जाता है ॥ ९३ ॥

एसो मामि जुवाणो वारंवारेण जं अडअणाओ ।
गिम्हे गामेक्कवडोअं व किच्छेण पावन्ति ॥ ९४ ॥
[एवं मातुलानि युवा वारवारेण यमसत्य ।
ग्रीष्मे ग्रामैकवटोदकमिव कृच्छ्रेण प्राप्नुवन्ति ॥]

हे मामी, यही वह युवा पुरुष है जिसे गाँवकी असती स्त्रियाँ, ग्रीष्ममें ग्रामके मध्यिकटस्थ कूएँके शीतल जलकी भाँति अत्यन्त कष्टसे पाती हैं ॥ ९४ ॥

गामवडस्स पिउच्छा आवण्डुमुहीणँ पण्डुरच्छाअं।
हिअएण समं असईणँ पडइ वाआहअं पत्तं ॥ ९५ ॥
[ग्रामवटस्य पितृष्वस आपाण्डुमुखीनां पाण्डुरच्छायम् ।
हृदयेन सममसतीनां पतति वाताहतं पत्रम् ॥]

हे बुआ, पीतमुखी असतियोंके मनके साथ ही साथ गाँवके वटवृक्षके पीतवर्ण पत्रसमूह हवासे आहत हो गिरे जा रहे हैं ॥ ९५ ॥

पेच्छइ अलद्धलक्खं दीहं णीससइ सुण्णअं हसइ ।
जह जम्पइ अफुडत्थं तह से हिअअट्ठिअं किं पि ॥ ९६ ॥
[पश्यत्यलब्धलक्ष्यं दीर्घं निःश्वसिति शून्यं हसति ।
यथा जल्पत्यस्फुटार्थं तथा तस्या हृदयस्थितं किमपि ॥]

जब युवती बिना लक्ष्यके ही दृष्टिपात कर रही है, दीर्घनिःश्वास फेंक रही है, सूनी हँसी हँस रही है, एवं अस्पष्टार्थं भावसे न जाने क्या आलाप कर रही है, तब ऐसा लगता है कि शायद उसके मनमें कुछ न कुछ है ही ॥ ९६ ॥

गहवइ गओम्ह सरणं रक्खसु एअं त्ति अडअणा भणिरी ।
सहसागअस्स तुरिअं पइणो च्चिअ जारमप्पेइ ॥ ९७ ॥
[गृहपते गतोऽस्माकं शरणं रक्षैनमित्यसती भणित्वा ।
सहसागतस्य त्वरितं पत्युरेव जारमर्पयति ॥]

हे गृहस्वामी, यह पुरुष हमारा शरणागत हुआ है, इसकी रक्षा करो— कहकर असतीने सहसा आये हुए पतिके हाथों जारको सौंप दिया ॥ ९७ ॥

हिअअट्ठिअस्स दिज्जउ तणुआअन्ति ण पेच्छह पिउच्छा ।
हिअअट्ठिओम्ह कत्तो भणिउं मोहं गआ कुमरी ॥ ९८ ॥
[हृदयेप्सितस्य दीयतां तनूयमानां न पश्यथ पितृष्वसः ।
हृदयेप्सितोऽस्माकं कुतो भणित्वा मोहं गता कुमारी ॥]

अरी बुआ, इस कुमारीको इसके मनोवाञ्छित व्यक्तिको ही समर्पित कर, वह दुर्बल होता जा रहा है, क्या यह तुम्हें दीख नहीं रहा है ? 'मेरा हृदयहार पुरुष कहाँ है', यह कहकर कुमारी मोहपरत हो गयी है ॥ ९८ ॥

खिण्णस्स उरे पइणो ठवेइ गिम्हावरण्हरमिअस्स ।
ओल्लं गलन्तकुसुमं ण्हाणसुअन्धं चिउरभारं ॥ ९९ ॥
[खिन्नस्योरसि पत्युः स्थापयति ग्रीष्मापराह्णरमितस्य ।
आर्द्रं गलत्कुसुमं स्नानसुगन्धं चिकुरभारम् ॥]

ग्रीष्मकालके अपराह्न समय रमणकरनेवाले खिन्न पतिके वक्षःस्थलके ऊपर यह अपना आर्द्र, गलितपुष्प एवं स्नानसुगन्धियुक्त केशभार स्थापित कर रही है ॥ ९९ ॥

अह सरसदन्तमण्डलकवोलपडिमागओ मअच्छीए ।
अन्तो सिन्दूरिअसङ्खवत्तकरणिं वहइ चन्दो ॥ १०० ॥
[असौ सरसदन्तमण्डलकपोलप्रतिमागतो मृगाक्ष्याः ।
अन्तः सिन्दूरितशङ्खपात्रसादृश्यं वहति चन्द्रः ॥]

मृगनयनीके सरस दन्तक्षतमण्डलयुक्त कपोलपर प्रतिबिम्बित हो चन्द्र, बीचमें सिन्दूरवर्णयुक्त शङ्खपात्र की समानता पा जाता है ॥ १०० ॥

रसिअजणहिअअदइए कइवच्छलपमुहसुकइणिम्मइए ।
सत्तसअम्मि समत्तं तीअं गाहासअं एअं ॥ १०१ ॥
[रसिकजन हृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखसुकविनिर्मिते ।
सप्तशतके समाप्तं तृतीयं गाथाशतकमेतत् ॥]

कविवत्सल प्रमुख सुकवियों द्वारा रचित, रसिकों के हृदयहार सप्तशती में यह तृतीय शतक समाप्त हुआ ॥ १०१ ॥

चतुर्थ शतक

अह अम्ह आअदो अज्ज कुलहराओ त्ति छेञ्छई जारं ।
सहसागअस्स तुरिअं पइणो कण्ठे मिलावेइ ॥ १ ॥
[असावस्माकमागतोऽद्य कुलगृहादित्यसती जारम् ।
सहसागतस्य त्वरितं पत्युः कण्ठे लगयति ॥]

'यह व्यक्ति आज ही मेरे नैहरसे आया है'—ऐसा कहकर असती स्त्री अपने उपपतिको सहसागत पतिके गलेसे लगा देती है ॥ १ ॥

पुसिआ कण्णाहरणेन्दणीलकिरणाहआ ससिमऊहा ।
माणिणिवअणम्मि सकज्जलंसुसङ्काइ दइएण ॥ २ ॥
[प्रोञ्छिताः कर्णाभरणेन्द्रनीलकिरणाहताः शशिमयूखाः ।
मानिनीवदने सकज्जलाश्रुशङ्कया दयितेन ॥]

प्रिय पति मानिनीके वदनपर कर्णाभरणस्थित इन्द्रनीलमणिके प्रभामिश्रित चन्द्रकिरणसमूहको आँसूकी बूँद समझकर पोंछ दे रहा है ॥ २ ॥

एद्दहमेत्तम्मि जए सुन्दरमहिला सहस्सभरिए वि ।
अणुहरइ णवर तिस्सा वामद्धं दाहिणद्धस्स ॥ ३ ॥
[एतावन्मात्रे जगति सुन्दरमहिलासहस्रभृतेऽपि ।
अनुहरति केवलं तस्या वामार्धं दक्षिणार्धस्य ॥]

सहस्रों सुन्दरियोंसे परिपूर्ण इतने बड़े संसारमें सौन्दर्यके विषयमें केवल इसका ही वामाङ्ग दक्षिणाङ्गका अनुकरण कर रहा है ॥ ३ ॥

जह जह वाएइ पिओ तह तह णच्चामि चञ्चले पेम्मे ।
वल्ली वलेइ अङ्गं सहावथद्धे वि रुक्खम्मि ॥ ४ ॥
[यथा यथा वादयति प्रियस्तथा तथा नृत्यामि चञ्चले प्रेम्णि ।
वल्ली वलयत्यङ्गं स्वभावस्तब्धेऽपि वृक्षे ॥]

प्रेम मेरे चाञ्चल्यका विधायक है, वरन् मेरा प्रिय जैसे जैसे बजायेगा, मैं वैसे वैसे नाचूँगी अर्थात् उसकी इच्छाका पालन करूँगी। स्वभावस्तब्ध वृक्षमें भी चञ्चल लता लिपटी रहती है ॥ ४ ॥

दुक्खेहिँ लब्भइ पिओ लद्धो दुक्खेहिँ होइ साहीणो ।
लद्धो वि अलद्धो च्चिअ जइ जह हिअअं तह ण होइ ॥ ५ ॥
[दुःखैर्लभ्यते प्रियो लब्धो दुःखैर्भवति स्वाधीनः ।
लब्धोऽप्यलब्ध एव यदि यथा हृदय तथा न भवति ॥]

बड़े कष्टसे प्रियजनोंको प्राप्त किया जाता है, प्राप्त करनेपर भी बड़े कष्टसे उन्हें स्वाधीन किया जाता है और यदि वे हृदयके अनुरूप न हों तो लब्ध होनेपर भी उन्हें अलब्ध ही समझा जाता है ॥ ५ ॥

अव्वो अणुणअसुहकङ्खिरीअ अकअं कअं कुणन्तीए ।
सरलसहावो वि पिओ अविणअमग्गं बलण्णीओ ॥ ६ ॥
[कष्टमनुनयसुखकाङ्क्षणशीलयाकृतं कृतं कुर्वत्या ।
सरलस्वभावोऽपि प्रियोऽविनयमार्गं बलान्नीत ॥]

हाय रे, अनुनय सुखको आकांक्षाकर मैंने उसके द्वारा न किये गए अपराधको भी किया गया कहकर सरल स्वभाव प्रियको भी बलपूर्वक अविनय के मार्गमें खींच रही हूँ ॥ ६ ॥

हत्थेसु अ पाएसु अ अङ्गुलिगणणाइ अइगआ दिअहा ।
एण्हिं उण केण गणिज्जउ त्ति भणेउं रुअइ मुद्धा ॥ ७ ॥
[हस्तयोश्च पादयोश्चाङ्गुलिगणनयातिगता दिवसा ।
इदानीं पुन केन गण्यतामिति भणित्वा रोदिति मुग्धा ॥]

हाय एवं पैरोंमें स्थित अङ्गुलियों द्वारा गणनाकर दिनोंको काटा है । अब किसके सहारे यह दिन गणना करूँगी ? ऐसा कहकर मुग्धा रो रही है ॥ ७ ॥

कीरमुहसच्छहेहिँ रेहइ वसुहा पलासकुसुमेहिँ ।
बुद्धस्स चलणवन्दणपडिएहिँ व भिक्खुसंघेहिँ ॥ ८ ॥
[कीरमुखसदृशै राजते वसुधा पलाशकुसुमैः ।
बुद्धस्य चरणवन्दनपतितैरिव भिक्षुसघै ॥]

बुद्धदेवके चरणवन्दनार्थ धराशायी भिक्षुओंकी भाँति शुकमुखसदृश रक्तवर्ण पलाश पुष्पोंसे वसुधा शोभान्वित हो रही है ॥ ८ ॥

जं जं पिहुलं अङ्गं तं तं जाअं किसोअरि किस ते ।
जं जं तणुअं तं तं पि णिट्ठिअं किं त्थ माणेण ॥ ९ ॥

[यद्यत्पृथुलमङ्गं तत्तत्जात कृशोदरि कृशं ते ।
यद्यत्तनुकं तत्तदपि निष्ठितं किमत्र मानेन ॥]

हे कृशोदरी, तुम्हारे जो-जो अङ्ग स्थूल होते हैं, वे ही कृश हो गए हैं और जो-जो अङ्ग स्वभावतः कृश होते हैं, वे-वे अङ्ग कृशताकी चरमसीमा पर पहुँच गए हैं, इसलिये मान द्वारा क्या मिलेगा ? ॥ ९ ॥

ण गुणेण हीरइ जणो हीरइ जो जेण भाविओ तेण ।
मोत्तूण पुलिन्दा मोत्तिआइँ गुञ्जाओं गेह्णन्ति ॥ १० ॥

[न गुणेन ह्रियते जनो ह्रियते यो येन भावितस्तेन ।
मुक्त्वा पुलिन्दा मौक्तिकानि गुञ्जा गृह्णन्ति ॥]

कोई व्यक्ति केवल गुण द्वारा किसी के आकर्षणका विषय नहीं होता। जो व्यक्ति जिस वस्तु द्वारा प्रेम रूप लगता है, वह व्यक्ति उसी वस्तु द्वारा आकृष्ट होता है। उत्कल के पर्वतवासी पुलिन्दगण मुक्ताको त्यागकर गुञ्जाको ही ग्रहण करते हैं ॥ १० ॥

लङ्कालआणँ पुत्तअ वसन्तमासेक्कलद्धपसराणँ ।
आपीअलोहिआणं बीहेइ जणो पलासाणं ॥ ११ ॥

[लङ्कालयाना पुत्रक वसन्तमासैकलब्ध प्रसराणाम् ।
आपीतलोहितानां बिभेति जनः पलाशानाम् ॥]

हे पुत्रक, लङ्कानिवासी चर्बी, नस एव मांस में अधिकतर प्रसृत एवं अत्यधिक रुधिरपायी राक्षसोंकी भाँति आस्वादपायी, वसन्त मासमें ही अधिकतर प्रसृत एवं ईषत् पीत एवं लोहित वर्ण पलाशपुष्पों से सुन्दर नारियाँ डरती हैं ॥ ११ ॥

घेत्तूण चुण्णमुट्ठिं हरिसूससिआए वेपमाणाए ।
भिसिणेमित्ति पिअअमं हत्थे गन्धोदअं जाअं ॥ १२ ॥

[गृहीत्वा चूर्णमुष्टिं हर्षोत्सुकिताया वेपमानाया ।
अवकिरामीति प्रियतमं हस्ते गन्धोदकं जातम् ॥]

हर्षसे उच्छ्वसित हो, सात्विक भावसे काँपती हुई नायिका गन्धद्रव्यकी चूर्णमुष्टि ग्रहणकर प्रियतमके उपर विकीर्ण करेगी, ऐसा सोचते ही धर्मभावसे उसके हाथमें गन्धजल उत्पन्न हो गया ॥ १२ ॥

पुट्ठिं पुससु किसोअरि पडोहरङ्कोल्लपत्तचित्तलिअं।
छेआहिँ दिअरजाआहिँ उज्जुए मा कलिज्जिहिसि ॥ १३ ॥

[पृष्ठं प्रोञ्छ कृशोदरि पश्चाद्गृहाङ्कोटपत्रचित्रितम् ।
विदग्धाभिर्देवरजायाभि ऋजुके मा कलिष्यसे ॥]

हे कृशोदरी, मकानके बादवाले घरमें मसिहित अङ्कोट वृक्षके पत्ते द्वारा चित्रित अपनी पीठको पोंछ डालो। नहीं तो, अरी सरले, तेरी चतुर देवरानियाँ तुझे समझ जायँगी ॥ १३ ॥

अच्छीइँ ता थइस्सं दोहिँ वि हत्थेहिँ वि तस्सि दिट्ठे।
अङ्गं कलम्बकुसुमं व पुलइअं कहँ णु ढक्किस्सं ॥ १४ ॥

[अक्षिणी तावत्स्थगयिष्यामि द्वाभ्यामपि हस्ताभ्यां तस्मिन्दृष्टे।
अङ्गं कदम्बकुसुममिव पुलकितं कथं नु छादयिष्यामि ॥]

उसके दिखायी पड़नेपर, मैंने हाँ मा दो हाथों द्वारा दोनों नेत्रोंको ढक लिया, किन्तु कदम्बके पुष्पकी नाईं पुलकित सारे शरीरको कैसे ढक लूँ? ॥ १४ ॥

झञ्झावाउत्तणिए घरम्मि रोऊण णीसहणिसण्णं।
दावेइ व गअवइअं विज्जुज्जोओ जलहराणं ॥ १५ ॥

[झञ्झावातोत्तृणिते गृहे रुदित्वा नि सहनिषण्णाम् ।
दर्शयतीव गतपतिका विद्युदुद्योतो जलधराणाम् ॥]

झञ्झावात में तृणशून्यीकृत गृहमें दुसहक्लेशवश रोदन करने बैठी हुई प्रोषितपतिका रमणीको विद्युत् की ज्योति आकाशवर्ती मेघके निकट दिखायी दे रही है ॥ १५ ॥

भुञ्जसु जं साहीणं कुत्तो लोणं कुगामरिद्धम्मि।
सुहअ सलोणेण वि किं तेण सिणेहो जहिं ण त्थि ॥ १६ ॥

[भुङ्क्ष्व यत्स्वाधीनं कुतो लावणं कुग्रामरिद्धे।
सुभग सलवणेनापि किं तेन स्नेहो यत्र नास्ति ॥]

अपने उद्योग द्वारा जो जुट रहा है, उसीका भोजन करो। इस गँवईमें रन्धनकार्यके लिए लवण कहाँ मिलेगा? हे सुभग, जिस वस्तुमें स्नेह (स्निग्धता) नहीं है, उसके केवल लवण (लावण्य) युक्त होनेसे क्या लाभ? ॥ १६ ॥

सुहपुच्छिआइ हलिओ मुहपङ्कअसुरहिपवणणिव्वविअं ।
तह पिअइ पअइकडुअं पि ओसहं जण ण णिट्ठाइ ॥ १७ ॥
[सुखपृच्छिकाया हलिको मुखपङ्कजसुरभिपवननिर्वापितम् ।
तथा पिबति प्रकृतिकटुकमप्यौषधं यथा न तिष्ठति ॥]

हलिकने भी अनुरक्त शरीर सुखजिज्ञासाकारिणीके मुखकमलके समीर द्वारा शीतल किये हुए स्वभाव कटुऔषधिको इस प्रकार पी डाला कि उसका किंचिन्मात्र भी शेष नहीं रहा ॥ १७ ॥

अह सा तहिं तहिं च्चिअ वाणीरवणम्मि चुक्कसंकेआ ।
तुह दंसणं विमग्गइ पब्भट्ठणिहाणठाणं व ॥ १८ ॥
[अथ सा तत्र तत्रैव वानीरवने विस्मृतसङ्केता ।
तव दर्शनं विमार्गति प्रभ्रष्टनिधानस्थानमिव ॥]

बादमें वह नायिका सङ्केतस्थलकी बात भूलाकर विस्मृत आधारस्थानकी भाँति, उसी उसी वाणीकुञ्जमें तुम्हें खोज रही है ॥ १८ ॥

दढरोसकलुसिअस्स वि सुअणस्स मुहाहिं विप्पिअं कत्तो ।
राहुमुहम्मि वि ससिणो किरणा अमअं विअ मुअन्ति ॥ १९ ॥
[दृढरोषकलुषितस्यापि सुजनस्य मुखादप्रियं कुतः ।
राहुमुखेऽपि शशिनः किरणा अमृतमेव मुञ्चन्ति ॥]

अत्युत्कट-रोषवश कलुषित होनेपर भी भले आदमीके मुँहसे अप्रिय बात कहाँ निकलती है ? राहुके मुखमें पड़े हुए चन्द्र किरण अमृत ही देते हैं ॥१९॥

अवमाणिओ वि ण तहा दुमिज्जइ सज्जणो विहवहीणो ।
पडिकाउं असमत्थो माणिज्जन्तो जह परेण ॥ २० ॥
[अवमानितोऽपि न तथा दूयते सज्जनो विभवहीनः ।
प्रतिकर्तुमसमर्थो मान्यमानो यथा परेण ।

वैभवहीन सज्जन अपमानित होनेपर भी उतने क्षुब्ध नहीं होते, जितना कि दूसरों द्वारा माने जानेपर भी वैभवके अभावमें प्रत्युपकारसे असमर्थ होने पर व्यथित होते हैं ॥ २१ ॥

कलहन्तरे वि अविणिग्गआइँ हिअअम्मि जरमुवगआइँ ।
सुअणकआइ रहस्साइँ डहइ आउक्खए अग्गी ॥ २१ ॥

[कलहान्तरेऽप्यविनिर्गतानि हृदये जरामुपगतानि ।
सुजनश्रुतानि रहस्यानि दहत्यायुःक्षयेऽग्निः ॥]

सुजनों द्वारा सुनी हुई भेदकी बातें भी कलहमें उसके मुँहसे नहीं निकलतीं, उसके हृदयमें ही वे नष्ट हो जाती हैं और उसके आयुक्षयके साथ साथ अग्नि उन्हें दग्ध करती है ॥ २१ ॥

लुम्बीओ अङ्गणमाहवीणँ दारग्गलाउ जाआउ ।
आसासो पान्थपलोअणे वि पिट्ठो गअवईण ॥ २२ ॥
[स्तबका अङ्गणमाधवीनां द्वारार्गला जाता ।
आश्वास पान्थप्रलोकनेऽपि नष्टो गतपतिकानाम् ॥]

आँगनमें आरूढ माधवीलताके गुच्छे घरके दरवाजेके अर्गलास्वरूप हो गए हैं, वरन् प्रोषितपतिकाओंके कष्टोंकेलिए पथिकोंके प्रति दृष्टिक्षेपका आश्वास भी हमेशाकेलिए पूर्णत नष्ट हो गया है ॥ २२ ॥

पिअदंसणसुहरसमउलिआइँ जइ से ण होन्ति णअणाइं ।
ता केण कण्णरइअं लक्खिज्जइ कुवलअं तिस्सा ॥ २३ ॥
[प्रियदर्शनसुखरसमुकुलिते यदि तस्या न भवतो नयने ।
तदा केन कर्णरचितं लक्ष्यते कुवलयं तस्याः ॥]

उस नायिकाके नेत्र यदि प्रियदर्शन सुखसे मुकुलित न होते तो क्या उसके कानोंमें रचित नीलकमलको कोई देख सकता ? ॥ २३ ॥

चिक्खिल्लखुत्तहलमुहकड्ढणसिढिले पइम्मि पासुत्ते ।
अप्पत्तमोहणसुहा घणसमअं पामरी सवइ ॥ २४ ॥
[कर्दममग्नहलमुखकर्षणशिथिले पत्यौ प्रसुप्ते ।
अप्राप्तमोहनसुखा घनसमयं पामरी शपति ॥]

कीचड़में फँसे हुए हलकी नोकको खींचकर थकेहुए पतिके सोजानेपर अप्राप्त सुरतसुखापामरवधू वर्षाकालको अभिशाप दे रही है ॥ २४ ॥

दुम्मेन्ति देन्ति सोक्खं कुणन्ति अणुराअं रमावेन्ति ।
अरहरइवन्धवाणं णमो णमो मअणवाणाणं ॥ २५ ॥
[दूनयन्ति ददति सौख्यं कुर्वन्त्यनुरागं रमयन्ति ।
अरतिरतिबान्धवेभ्यो नमो नमो मदनबाणेभ्यः ॥]

व्याकुलता एवं चिन्तानुरञ्जनक सहायक मदनके बाणोंको नमस्कार करती हूँ, कारण व सब प्रियकी अनुपस्थितिमें मनोव्यथा भी उत्पन्न करते हैं और सुख भी प्रदान करते हैं, वा कभी प्रेमानुराग बढ़ा देते हैं एवं कभी सौमनस्य उत्पन्न कर देते हैं ॥ २५ ॥

कुसुममआ वि अइखरा अलद्धफंसा वि दूसहपआवा ।
भिन्दन्ता वि रइअरा कामस्स सरा बहुविअप्पा ॥ २६ ॥
[कुसुममया अप्यतिखरा अलब्धस्पर्शा अपि दुःसहप्रतापाः ।
भिन्दन्तोऽपि रतिकराः कामस्य शरा बहुविकल्पाः ॥]

कामदेवके बाण नाना प्रकार विशिष्ट अर्थात् परस्पर विरुद्धधर्मी हैं। कारण, कुसुममय होनेपर भी वे अत्यन्त तीक्ष्ण हैं, लक्ष्यवस्तुको स्पर्श किये बिना ही वे उससे दुःसह ताप प्रकट करते हैं एवं हृदय-भेदन करनेपर भी रतिसम्पादन कर्ता होते हैं ॥ २६ ॥

ईसं जणेन्ति दावेन्ति मम्महं विप्पिअं सहावेन्ति ।
विरहे ण देन्ति मरिउं अहो गुणा तस्स बहुमग्गा ॥ २७ ॥
[ईर्ष्यां जनयन्ति दीपयन्ति मन्मथं विप्रियं साहयन्ति ।
विरहे न ददति मर्तुमहो गुणास्तस्य बहुमार्गाः ॥]

अहो, प्रिय अथवा कामबाण की गुणावली बहुविध है—कभी तो ये ईर्ष्या उत्पन्न करते हैं, कभी मदनभाव उद्दीपित करते हैं, कभी अप्रियाचरण सहन कराते हैं एवं विरहमें भी मरनेका अवकाश नहीं देते ॥ २७ ॥

णीआइँ अज्ज णिक्किव पिणद्धणवरङ्गआए घराईए ।
घरपरिवाडीअ पहेणआइँ तुह दंसणासाए ॥ २८ ॥
[नीतान्यद्य निष्कृप पिनद्धनवरङ्गकया वराकया ।
गृहपरिपाट्या प्रहेणकानि तव दर्शनाशया ॥]

हे निर्दय, तुम्हारे दर्शनकी आशामें यह दीनानायिका नूतन रङ्गवस्त्र पहनकर आज यह घर घर बायन बाँट रही थी, किन्तु तुम्हारी अनुकम्पा उसे नहीं मिली ॥ २८ ॥

सूरच्छद हेमन्तम्मि दुग्गओ पुप्फुआसुअन्धेण ।
धूमकविलेण परिविरलतन्तुणा जुण्णवडएण ॥ २९ ॥

[सूच्यते हेमन्ते दुर्गतः करीषाग्निसुगन्धेन ।
धूमकपिलेन परिविरलतन्तुना जीर्णपटकेन ॥]

हेमन्तकालमें नायकको गोइठे की अग्नि सुगन्धिविशिष्ट, धूएँ के कारण पिङ्गल वर्ण एवं सभी प्रकार से विरलसूत्रमय जीर्णवस्त्रद्वारा उसे अत्यन्त दरिद्र सूचित किया जाता है ॥ २९ ॥

खरसिप्पिरउल्लिहिआइँ कुणइ पहिओ हिमागमपहाए।
आअमणजलोल्लिअहत्थफंससिसिणाइँ अङ्गाइं ॥ ३० ॥

[खरपलालोल्लिखितानि करोति पथिको हिमागमप्रभाते ।
आचमनजलार्द्रितहस्तस्पर्शमसृणान्यङ्गानि ॥]

शिशिरके समागममें प्रभात समय पथिक तीक्ष्ण पुआलद्वारा क्षत अङ्गोंको आचमन जलसे गीले हाथके स्पर्शद्वारा मसृण अथवा चिकना कर रहा है ॥ ३० ॥

णक्खक्खुडिअं सहआरमञ्जरिं पामरस्स सीसम्मि।
वन्दिम्मिव हीरन्तीं भमरजुआणा अणुसरन्ति ॥ ३१ ॥

[नखोत्खण्डितां सहकारमञ्जरीं पामरस्य शीर्षे ।
बन्दीमिव ह्रियमाणां भ्रमरयुवानोऽनुसरन्ति ॥]

नखद्वारा उन्मूलित एवं पामरों द्वारा शिरपर ले जाती हुई आम्रमञ्जरियोंको बलद्वारा अपहृत वन्दिनी समझकर भ्रमरयुवा उनका अनुसरण कर रहे हैं ॥ ३१ ॥

सूरच्छलेण पुत्तअ कस्स तुमं अञ्जलिं पणामेसि ।
हासकडक्खुम्मिस्सा ण होन्ति देवाणँ जेक्कारा ॥ ३२ ॥

[सूर्यच्छलेन पुत्रक कस्मै त्वमञ्जलिं प्रणामयसि ।
हास्यकटाक्षोन्मिश्रा न भवन्ति देवानां जयकाराः ॥]

हे पुत्रक, तुम सूर्यके बहाने किसे अञ्जलिबंधेहुए प्रणामकर रहे हो? देवताओंकी स्तुति हास्य एवं कटाक्षद्वारा मिश्रित होने योग्य नहीं है ॥ ३२ ॥

मुहविज्झविअपईवं णिरुद्धसासं ससङ्किओल्लावं।
सवहसअरक्खिओट्ठं चोरिअरमिअं सुहावेइ ॥ ३३ ॥

[मुखविध्मापितप्रदीपं निरुद्धश्वासं सशङ्कितोल्लापं ।
शपथशतरक्षितोष्ठं चौरिकारमितं सुखयति ॥]

जिससे मुखमारुत द्वारा दीपक बुझाया जाय, साँस अवरुद्ध हो जाय, सशङ्कभावसे प्रकाश चले, एवं क्षत शपथद्वारा अधरदंशन वर्जित हो, वह चौर्यरमण सुख उत्पन्न करता है ॥ ३३ ॥

गेअच्छलेण भरिउं कस्स तुमं रुअसि णिब्भरुक्कण्ठं ।
मण्णुपडिरुद्धकण्ठद्धणिन्तखलिअक्खरुल्लावं ॥ ३४ ॥

[गेयच्छलेन स्मृत्वा कस्य त्वं रोदिषि निर्भरोत्कण्ठम् ।
मन्युप्रतिरुद्धकण्ठार्धनिर्यत्स्खलिताक्षरोल्लापम् ॥]

गानेके बहाने किसे स्मरणकर तुम रोती हो, इस रोदनसे तुम्हारी उत्कण्ठा की अतिशयता प्रकट होती है एवं इससे तुम्हारे शोकनिरुद्ध कण्ठसे अर्धनिःसृत एवं स्खलिताक्षर प्रलाप सुनायी पड़ता है ॥ ३४ ॥

बहलतमा हअराई अज्ज पउत्थो पई घरं सुण्णं ।
तह जग्गेसु सअज्झिअ ण जहा अम्हे मुसिज्जामो ॥ ३५ ॥

[बहलतमा हतरात्रिरद्य प्रोषितः पतिर्गृहं शून्यम् ।
तथा जागृहि प्रतिवेशिक यथा वयं मुष्यामहे ॥]

दुर्भाग्यपूर्ण रात्रि गाढान्धकाराच्छन्न है, पति भी आज ही प्रवासार्थ गया है, मेरा घर सूना है। हे पड़ोसी (उपपति), इस प्रकार जागृत रहना जिससे हमारे यहाँ चोरी न हो ॥ ३५ ॥

संजीवणोसहिम्मिव सुअस्स रक्खइ अणण्णवावारा ।
सासू णवब्भदंसणकण्ठागअजीविअं सोह्नं ॥ ३६ ॥

[संजीवनौषधमिव सुतस्य रक्षत्यनन्यव्यापारा ।
श्वश्रूर्नवाभ्रदर्शनकण्ठागतजीवितां स्नुषाम् ॥]

सास नवजलधर दर्शनके कारण, कण्ठागत प्राण पुत्रवधूको पुत्रके लिए संजीवन औषधिके समान समझकर, अनन्यकर्मा होकर रक्षा करती है ॥ ३६ ॥

णूणं हिअअणिहित्ताइ वससि जाआइ अम्ह हिअअम्मि ।
अण्णह मणोरहा मे सुहअ कहं तीअ विण्णाआ ॥ ३७ ॥

[नूनं हृदयनिहितया वससि जाययास्माकं हृदये ।
अन्यथा मनोरथा मे सुभग कथं तया विज्ञाताः ॥]

[हे सुभग, तुम निश्चय ही अपने हृदयमें निहित अपनी भार्याको साथ लेकर मेरे हृदय में वास कर रहे हो ; नहीं तो मेरे मनोगतभावको उसने कैसे जान लिया ? ॥ ३७ ॥

तइ सुहअ अईसन्ते तिस्सा अच्छीहिँ कण्णलग्गेहिँ ।
दिण्णं घोलिरवाहेहिँ पाणिअं दंसणसुहाणं ॥ ३८ ॥
[त्वयि सुभग अदृश्यमाने तस्या अक्षिभ्यां कर्णलग्नाभ्यां ।
दत्तं घूर्णनशीलबाष्पाभ्यां पानीयं दर्शनसुखेभ्य ॥]

हे सुभग, तुम उसके नयनपथ से अदृश्य होने पर, उसके कर्णपर्यन्त विस्तृत बाष्पसे घूर्णनशील नयनद्वय तुम्हारे दर्शन सुखके प्रति जलाञ्जलि दे रहे थे ॥ ३८ ॥

उप्पेक्खागअ तुह मुहदंसण पडिरुद्धजीविआसाइ ।
दुहिआइ मए कालो किस्सिअमेत्तो व्व णेअव्वो ॥ ३९ ॥
[उत्प्रेक्षागत त्वन्मुखदर्शनप्रतिरुद्धजीविताशया ।
दुःखितया मया काल कियन्मात्रो वा नेतव्य ॥]

ध्यान वा कल्पनामें प्राप्त तुम्हारे मुखदर्शनद्वारा मेरे जीवनकी आशा स्थापित रही है ; किन्तु इस प्रकार दुःखी होकर मैं कितना समय बिताऊँगी ? ॥ ३९ ॥

घोलीणालक्खिअरूअजोव्वणा पुत्ति कं ण दुम्मेसि ।
दिट्ठा पणट्ठपोराणजणवआ जम्मभूमि व्व ॥ ४० ॥
[*परिक्रान्तालक्षितरूपयौवना पुत्रि कं न दुनोषि ।
दृष्टा प्रणष्टपौराण जनपदा जन्मभूमिरिव ॥]

हे पुत्री, तुम्हारा पूर्वकालीन रूप यौवन विगलित होनेसे अब वैसा दिखायी नहीं पड़ता एवं तुम विनष्ट पूर्वजोंके निवास (जन्मभूमि) की भाँति दिखायी पड़कर किसे दुःख नहीं देती ? ॥ ४० ॥

परिओसविअसिएहिँ भणिअं अच्छीहिँ तेण जणमज्झे ।
पडिवण्णं तीअ वि उव्वमन्तसेएहिँ अङ्गेहिं ॥ ४१ ॥
[परितोषविकसिताभ्यां भणितमक्षिभ्यां तेन जनमध्ये ।
प्रतिपन्नं तयाप्युद्वमत्स्वेदैरङ्गै ॥]

अनेक लोगोंके बीच उस नायकने अपने परितोषविकसित नयनद्वय द्वारा अपना अभिमत प्रकाशित किया । उसे नायिकाने भी उसके बहे हुए स्वेदजल विशिष्ट अङ्गों द्वारा उस अभिमतको अङ्गीकार कर लिया था ॥ ४१ ॥

एक्कक्कमसंदेसाणुराअवड्ढन्त कोउहल्लाइं ।
दुःखं असमत्तमणोरहाइं अच्छन्ति मिहुणाइं ॥ ४२ ॥

[अन्योन्यसंदेशानुरागवर्धमानकौतूहलानि ।
दुःखमसमाप्तमनोरथानि तिष्ठन्ति मिथुनानि ॥]

दोनों प्रेमी परस्पर प्रेरित प्रणय वार्त्ताद्वारा उत्पन्न अनुरागमें कौतूहलके बढ़जानेपर मिलन मनोरथ पूरा न करसकनेके कारण दुःखमें रहरहे हैं ॥ ४२ ॥

जइ सो ण वल्लहो व्विअ गोत्तग्गहणेण तस्स सहि कीस ।
होइ मुहं ते रविअरफंसविसट्टं व तामरसं ॥ ४३ ॥

[यदि स न वल्लभ एव गोत्रग्रहणेन तस्य सखि किमिति ।
भवति मुखं तव रविकरस्पर्शविकसितमिव तामरसम् ॥]

हे सखि, वह यदि तुम्हें प्रिय न होता तो उसका नाम लेनेपर तुम्हारा मुख सूर्यकिरणके स्पर्शसे विकसित पद्मकी भाँति प्रतीयमान क्यों होता ? ॥

माणदुमपरुसपवणस्स मामि सव्वङ्गणिव्वुदिअरस्स ।
अवऊहणस्स भद्दं रइणाडअपुव्वरङ्गस्स ॥ ४४ ॥

[मानद्रुमपरुषपवनस्य मातुलानि सर्वाङ्गनिर्वृतिकरस्य ।
अवगूहनस्य भद्रं रतिनाटकपूर्वरङ्गस्य ॥]

सभी अङ्गोंके सुखविधायक, रतिनाटकके पूर्वरङ्गरूपी आलिङ्गनकी शुभ कामना करती हूँ ॥ ४४ ॥

णिअअणुमाणणीसङ्क हिअअ दे पसिअ विरम एत्ताहे ।
अमुणिअपरमत्थजणाणुलग्ग कीस म्ह लहुएसि ॥ ४५ ॥

[निजकानुमाननिःशङ्क हृदय हे प्रसीद विरमेदानीम् ।
अज्ञातपरमार्थजनानुलग्न किमित्यस्माल्लघयसि ॥]

हे हृदय, तुम अपने अनुमानद्वारा ही शङ्काशून्य हुए हो, सम्प्रति नायककी खोजसे विरत होओ, ऐसे अज्ञात मर्म व्यक्तिमें आसक्त होना, हम जैसी ललनाओंको इतना छोटा क्यों बना देता है ? ॥ ४५ ॥

थोसद्दिअजणो पइणा सलाहमाणेण अइचिरं हसिओ ।
चन्दो त्ति तुज्झ वअणे विइण्णकुसुमाञ्जलिविलक्खो ॥ ४६ ॥

[आत्तसयिकजनः पत्या श्लाघमानेनातिचिरं हसितः ।
चन्द्र इति तव वदने वितीर्णकुसुमाञ्जलिविलक्षः]

तुम्हारा मुख ही चन्द्र है, ऐसा सोचकर उसके प्रति कुसुमाञ्जलि देनेसे लज्जित धर्मशास्त्रोंमें नियमित गृहस्थकी प्रशंसाकर तुम्हारा पति बहुत देर तक हँसा है ॥ ४६ ॥

छिज्जन्तेहिं अणुदिणं पच्चक्खम्मि वि तुमम्मि अङ्गेहिं ।
बालअ पुच्छिज्जन्ती ण आणिमो कस्स किं भणिमो ॥ ४७ ॥

[क्षीयमाणैरनुदिनं प्रत्यक्षेऽपि त्वय्यङ्गैः ।
बालक पृच्छ्यमाना न जानीमः कस्य किं भणामः ॥]

हे बालक, तुम्हारे उपस्थित होनेपर भी प्रतिदिन अङ्गोंको क्षीण होते देख इसका कारण पूछे जानेपर मैं किसे क्या उत्तर दूँ ? यह नहीं जानती ॥ ४७ ॥

अङ्गाणं तणुआरअ सिक्खावअ दीहरोइअव्वाणं ।
विणआइक्कमआरअ मा मा णं पम्हसिज्जासु ॥ ४८ ॥

[अङ्गानां तनुकारक शिक्षक दीर्घरोदितव्यानाम् ।
विनयातिक्रमकारक मा मा एनां प्रस्मरिष्यसि ॥]

हे नायक, तुम सखीके अङ्गोंकी कृशताके विधायक हो, उसके दीर्घरोदनके मूल शिक्षक एवं शीलभङ्ग करनेके कारण हो । तुम अब कभी उसे स्मरण न करना ॥ ४८ ॥

अण्णह ण तीरइ च्चिअ परिवड्ढन्तगरुअं पिअअमस्स ।
मरणविणोएण विणा विरमावेउं विरहदुक्खं ॥ ४९ ॥

[अन्यथा न शक्यत एव परिवर्धमानगुरुकं प्रियतमस्य ।
मरणविनोदेन विना विरमयितुं विरहदुःखम् ॥]

मरणरूप तुष्टि साधनके अतिरिक्त किसी दूसरे प्रकारसे प्रियतमके विरहमें बढ़नेवाला भारी दुःख शान्त न होगा ॥ ४९ ॥

वण्णन्तीहिँ तुह गुणे बहुसो अम्हेहिँ छिञ्छईपुरओ ।
बालअ सअमेअ कओसि दुल्लहो कस्स कुप्पामो ॥ ५० ॥

[वर्णयन्तीभिस्तव गुणान्बहुशोऽस्माभिरसतीपुरतः ।
बालक स्वयमेव कृतोऽसि दुर्लभः कस्मै कुप्यामः ॥]

असतियों के सामने मैंने ही तुम्हारी गुणावली का बहुत वर्णन किया है । इसके फलस्वरूप, हे बालक, स्वयं मैंने तुम्हें दुर्लभ बनालिया है । किसे कोप दिखायें ॥ ५० ॥

जाओ सो वि विलक्खो मए वि हसिऊण गाढमुवगूढो ।
पढमोसरिअस्स णिअंसणस्स गण्ठिं विमग्गन्तो ॥ ५१ ॥

[जातः सोऽपि विलक्षो मयापि हसित्वा गाढमुपगूढः ।
प्रथमापसृतस्य निवसनस्य ग्रन्थिं विमार्गयमाणः ॥]

पहले ही मेरे विगलित वस्त्रकी गाँठ खोजनेको उद्यत हो, (सुनक) वह भी लज्जित हो गया और मैंने भी हँसकर उसका गाढालिङ्गन कर लिया ॥ ५१ ॥

कण्डुज्जुआ वराई अज्ज तए सा कआवराहेण ।
अलसाइअरुण्णविअम्भिआईं दिअहेण सिक्खविआ ॥ ५२ ॥
[काण्डर्जुका वराकी अद्य त्वया सा कृतापराधेन ।
अलसायितरुदितविजृम्भितानि दिवसेन शिक्षिता ॥]

तुमने अपराधकर सुमने आज अथवा कान्तकी भाँति सरलस्वभाव दीन रमणीको एक दिनमें औदासीन्य, रोदन एवं विलासकी शिक्षा दे दी है ॥ ५२ ॥

अवराहेहिँ वि ण तहा पत्तिअ जह मं इमेहिँ दुम्मेसि ।
अवहत्थिअसब्भावेहिँ सुहअ दक्खिण्णभणिएहिँ ॥ ५३ ॥
[अपराधैरपि न तथा प्रतीहि यथा मामेभिर्दुनोषि ।
अपहस्तितसद्भावैः सुभग दाक्षिण्यभणितैः ॥]

हे सुभग, मेरी बातका विश्वास करना । तुम अपने अपराधद्वारा मुझे उतना दुःखी नहीं कर सकते हो जितना अपने इस सद्भावशून्य दाक्षिण्यभाषण द्वारा कर सकते हो ॥ ५३ ॥

मा जूर पिआलिङ्गणसरहसममिरीएँ बाहुलइआणं ।
तुह्निक्कपरुण्णेण अ इमिणा माणंसिणि मुहेण ॥ ५४ ॥
[मा क्रुध्यस्व प्रियालिङ्गनसरभसभ्रमणशीलाभ्यां बाहुलतिकाभ्याम् ।
तूष्णीकप्ररुदितेन चानेन मनस्विनि मुखेन ॥]

हे मनस्विनी, नीरवत्र रोनेवाले इस मुखको लेकर तुम प्रियके आलिङ्गन जनित सुखसे कम्पायमान बाहुलताद्वयके ऊपर खेद मत प्रकट करना ॥ ५४ ॥

मा वच्च पुप्फलाविर देवा उअअञ्जलीहिँ तूसन्ति ।
गोआअरीअ पुत्तअ सीलुम्मूलाइँ कूलाइँ ॥ ५५ ॥
[मा व्रज पुष्पलवनशीला देवा उदकाञ्जलिभिस्तुष्यन्ति ।
गोदावर्याः पुत्रक शीलोन्मूलानि कूलानि ॥]

हे कुसुमचयनकेलिए व्यग्र पुत्रक, गोदावरी किनारे मत जाना, देवता जलाञ्जिलसे ही तुष्ट होते हैं । गोदावरीका तीर शीलोन्मूलनकारी है ॥ ५५ ॥

वअणे वअणम्मि चलन्तसीससुण्णावहाणहुङ्कारं ।
सहि देन्ति णीसासन्तरेसु कीस म्ह दुम्मेसि ॥ ५६ ॥

[वचने वचने पदव्यक्तीर्थशून्यावधानहुङ्कारम् ।
सखि ददती निःश्वासान्तरेषु किमित्यस्मान्दुनोषि ॥]

हे सखि, प्रत्येक बातमें निःश्वासके समय सिरसञ्चालनकर शून्यावधानके 'हूँ-हूँ' शब्द उच्चारितकर हमलोगोंको सतत क्यों करती हो ? ॥ ५६ ॥

सब्भावं पुच्छन्ती बालअ रोआविआ तुअ पिआए ।
णत्थि त्ति कअसवहं हासुम्मिस्सं भणन्तीए ॥ ५७ ॥

[सद्भावं पृच्छन्ती बालक रोदिता तव प्रियया ।
नास्त्येव कृतशपथं हासोन्मिश्रं भणन्त्या ॥]

हे बालक, उसके प्रति तुम्हारे सद्भावके सम्बन्धमें जिज्ञासा करनेपर तुमने तुम्हारी प्रियाने रुलाया है। शपथ दिलानेपर उसने हँसकर मुझे कारण बतलाया कि तुम्हारा सद्भाव एकदम नहीं है ॥ ५७ ॥

एत्थ मए रमिअव्वं तीअ समं चिन्तिऊण हिअएण ।
पामरकरसेअल्लिआ णिवडइ तुवरी वविज्जन्ती ॥ ५८ ॥

[अत्र मया रन्तव्यं तया समं चिन्तयित्वा हृदयेन ।
पामरकरस्वेदार्द्रा निपतति तुवरी उप्यमाना ॥]

इसी अरहरके खेतमें मैं उसके साथ रमण करूँगा, यह सोचते ही पामरके स्वेदोद्गमसे आर्द्र हो उप्यमान (बकमाल) अरहरका बीज गिर गया ॥ ५८ ॥

गहवइसुओच्चिएसु वि फलहीवेण्टेसु उअह वहुआए ।
मोहं भमइ पुलइओ विलग्गसेअङ्गुली हत्थो ॥ ५९ ॥

[गृहपतिसुतावचितेष्वपि कर्पासवृन्तेषु पश्यत वध्वाः ।
मोघं भ्रमति पुलकितो विलग्नस्वेदाङ्गुलिर्हस्तः ॥]

तुमलोग देखो, गृहपतिके पुत्र अर्थात् मेरे पतिद्वारा चयनकियेहुए कुसुमकर्पासयुक्त वृन्तसमूहमें वधूके विलग्नस्वेदान्वित अङ्गुलिविशिष्ट हाथ पुलकित होकर वृथाही आगे बढ़रहा है ॥ ५९ ॥

अज्जं मोहणसुहिअं मुअत्ति मोत्तूण पलाइए हलिए ।
दरफुडिअवेण्टभारोणआइ हसिअं व फलहीए ॥ ६० ॥

[आर्यां मोहनसुखितां मृतेति मुक्त्वा पलायिते हलिके ।
दरस्फुटितवृन्तभारावनतया हसितमिव कर्पास्या ॥]

सुरतसुखिता आर्याको मराहुआ समझकर भयके मारे उसे छोड़कर हलिक

भाग गया, किंचित् खिला हुआ फूल कुन्दसमूहके भारसे अवनत होकर कार्पासी भी मानो हँसने लगा।

णीसासुक्कम्पिअपुलइएहिँ जाणन्ति णच्चिउं धण्णा।
अम्हारिसीहिँ दिट्ठे पिअम्मि अप्पा वि वीसरिओ ॥ ६१ ॥
[निःश्वासोत्कम्पितपुलकितैर्जानन्ति नर्तितुं धन्याः।
अस्मादृशीभिर्दृष्टे प्रिये आत्मापि विस्मृतः ॥]

नृत्यके समय प्रेमीके अङ्गस्पर्शसे जो निःश्वास उत्कम्प एवं पुलकके साथ नृत्य करना जानती हैं, वे धन्या हैं, किन्तु मेरी जैसी रमणीके प्रियको देख पाते ही आत्मविस्मृत हो जाती हैं ॥ ६१ ॥

तणुएण वि तणुइज्जइ खीणेण वि खिज्जए बला इमिणा।
मज्झत्थेण वि मज्झेण पुत्ति कहँ तुज्झ पडिवक्खो ॥ ६२ ॥
[तनुकेनापि तनूयते क्षीणेनापि क्षीयते बलादनेन।
मध्यस्थेनापि मध्येन पुत्रि कथं तव प्रतिपक्षः ॥]

हे पुत्रि, तुम्हारी कमर दुबली एवं पतली है, इस कमरकेद्वारा तुम अपने प्रतिद्वन्द्वियोंको दुबली-पतली बनानेमें किस प्रकार समर्थ हो रही हो ? ॥ ६२ ॥

वाहिव्व वेज्जरहिओ धणरहिओ सुअणमज्झवासो व्व।
रिउरिद्धिदंसणम्मिव दूसहणीओ तुह विओओ ॥ ६३ ॥
[व्याधिरिव वैद्यरहितो धनरहितः स्वजनमध्यवास इव।
रिपुऋद्धिदर्शनमिव दुःसहनीयस्तव वियोगः ॥]

तुम्हारा विरह मेरेलिए वैद्यरहित व्याधिकी भाँति, स्वजनोंके बीच निर्धन हो वासकरनेकी भाँति तथा अपने नेत्रद्वारा शत्रुओंकी समृद्धि देखनेके समान प्रतीत होता है ॥ ६३ ॥

को एत्थ जअम्मि समत्थो थइउं वित्थिण्णणिम्मलुत्तुङ्गं।
हिअअं तुज्झ णराहिव गअणं च पओहरं मोत्तुं ॥ ६४ ॥
[कोऽत्र जगति समर्थः स्थगयितुं विस्तीर्णनिर्मलोत्तुङ्गम्।
हृदयं तव नराधिप गगनं च पयोधरान्मुक्त्वा ॥]

हे राजन्, पयोधर (स्तन या मेघ) के अतिरिक्त कौनसी वस्तु इस जगत्में विस्तीर्ण, निर्मल एवं उत्तुङ्ग तुम्हारे हृदय एवं गगनपर अधिकार करनेमें समर्थ है ? ॥ ६४ ॥

आअण्णेइ अडअणा कुडङ्गहेट्ठम्मि दिण्णसङ्केआ ।
अग्गपअपेल्लिआणं मम्मरअं जुण्णपत्ताणं ॥ ६५ ॥
[आकर्णयत्यसती कुञ्जाधो दत्तसङ्केता ।
अग्रपदप्रेरितानां मर्मरकं जीर्णपत्राणाम् ॥]

निकुञ्जतले दत्तसङ्केता असती तुम्हारे पादाग्र द्वारा आहत जीर्णपत्रोंका मर-मर शब्द सुन रही है ॥ ६५ ॥

अहिलेन्ति सुरहिणीससिअपरिमलावद्धमण्डलं भमरा ।
अमुणिअचन्दपरिहवं अपुव्वकमलं मुहं तिस्सा ॥ ६६ ॥
[अभिलीयन्ते सुरभिनि श्वसितपरिमलाबद्धमण्डलं भ्रमराः ।
अज्ञातचन्द्रपरिभवमपूर्वकमलं मुखं तस्याः ॥]

अपूर्व कमलके समान नायिकाका जो मुख कभी भी चन्द्रसे पराजित नहीं हुआ, उस मुखसे बहिर्गत सुरभियुक्त निःश्वासका परिमल पानेके लोभमें भौंरे (कामुकगण) दल बनाकर मुखकोओर बढ़रहे हैं ॥ ६६ ॥

धीरावलम्बिरीअ वि गुरुअणपुरओ तुमम्मि वोलीणे ।
पडिओ से अच्छिणिमीलणेण पम्हट्ठिओ वाहो ॥ ६७ ॥
[धैर्यावलम्बनशीलाया अपि गुरुजनपुरतस्त्वयि व्यतिक्रान्ते ।
पतितस्तस्या अक्षिनिमीलनेन पक्ष्मस्थितो बाष्पः ॥]

तुम्हारे चले जानेपर, गुरुजनोंके सम्मुख धैर्यावलम्बनकर स्थिर रहनेपर भी, नायिकाकी आँख मुँद जानेपर पलक स्थित बाष्प गिर पड़ा ॥ ६७ ॥

भरिमो से सअणपरम्मुहीअ विअलन्तमाणपसराए ।
कइअवसुत्तव्वत्तणथणक्कलसप्पेल्लणसुहेल्लिं ॥ ६८ ॥
[स्मरामस्तस्याः शयनपराङ्मुख्या विगलन्मानप्रसरायाः ।
कैतवसुप्तोद्वर्तनस्तनकलशप्रेरणसुखकेलिम् ॥]

पहले शयन पराङ्मुखी होनेपर भी, बादमें मानभार विगलित होनेपर उस नायिकाने कपटनिद्राका अवलम्बनकर करवट बदलकर कुचकलशोंको प्रेरणासे जिस सुखकेलिको उत्पन्न किया था, उसे स्मरण कररहा हूँ ॥ ६८ ॥

फग्गुच्छणणिद्दोसं केण वि कद्दमपसाहणं दिण्णं ।
थणअलसमूहपलोट्टन्तसेअधोअं किणो धुअसि ॥ ६९ ॥

[फाल्गुनोत्सवनिर्दोषं केनापि कर्दमप्रसाधनं दत्तम् ।
स्तनकलशमुखप्रलुठत्स्वेदधौतं किमिति धावयसि ॥]

न जाने किसने फाल्गुनोत्सव में तुम्हें निर्दोष विचारे बिना कीचड़ लगा दिया है । अपने स्तनकलशके मुखसे विगलित स्वेदद्वारा धोये हुए उस कीचड़को पुनः क्यों धो रही हो ? ॥ ६९ ॥

किं ण भणिओ सि बालअ गामणिधूआइ गुरुअणसमक्खं ।
अणिमिसमीसीसिवलन्तवअणणअणद्धदिट्ठेहिं ॥ ७० ॥
[किं न भणितोऽसि बालक ग्रामणीदुहित्रा गुरुजनसमक्षम् ।
अनिमिषमीषदीषद्वलद्वदननयनार्धदृष्टैः ॥]

हे बालक, गुरुओंके सम्मुख अनिमिषनयनसे मुखको तिरछाकर कटाक्ष-द्वारा तुम्हें देखकर ग्रामिणीकी कन्याने तुमसे क्या नहीं कहा ? ॥ ७० ॥

णअणब्भन्तरघोलन्तबाहभरमन्थराइ दिट्ठीए ।
पुणरुत्तपेच्छिरीए बालअ किं जं ण भणिओ सि ॥ ७१ ॥
[नयनाभ्यन्तरघूर्णमानबाष्पभरमन्थरया दृष्ट्या ।
पुनरुक्तप्रेक्षणशीलया बालक किं यन्न भणितोऽसि ॥]

नयनाभ्यन्तरमें घूर्णमानबाष्पभरित मन्थर दृष्टिसे तुम्हें बारबार देखकर, हे बालक, उस नायिका ने ऐसा क्या है जिसे तुमसे कह न दिया हो ? ॥ ७१ ॥

जो सीसम्मि विइण्णो मज्झ जुआणेहिँ गणवई आसी ।
तं च्चिअ एह्निं पणमामि हअजरे होहि संतुट्ठा ॥ ७२ ॥
[यः शीर्षे वितीर्णो मम युवभिर्गणपतिरासीत् ।
तमेवेदानीं प्रणमामि हतजरे भव संतुष्टा ॥]

युवकोंने मेरे सिरपर जिस गणपतिको दान किया था, अब यौवन विगत होनेपर उन्हींको प्रणाम कर रही हूँ । हे हतजरे, तुम सन्तुष्ट होओ ॥ ७२ ॥

अन्तोहुत्तं डज्झइ जाआसुण्णे घरे हलिअउत्तो ।
उक्खाअणिहाणाइँ व रमिअट्ठाणाइँ पेच्छन्तो ॥ ७३ ॥
[अन्तरभिमुखं दह्यते जायाशून्ये गृहे हालिकपुत्रः ।
उत्खातनिधानानीव रमितस्थानानि पश्यन् ॥]

जायाशून्य घरमें रमणके स्थानोंको, उत्खात-सञ्चित निधिके उत्पाटित

स्थानोंकी भाँति समझनेके कारण उसे देखकर हलिकपुत्रके हृदयमें दाहका अनुभव हो रहा है ॥ ७३ ॥

णिद्दाभङ्गो आवण्डुरत्तणं दीहरा अ णीसासा ।
जाअन्ति जस्स विरहे तेण समं कीरिसो माणो ॥ ७४ ॥
[निद्राभङ्ग आपाण्डुरत्वं दीर्घाश्च निःश्वासाः ।
जायन्ते यस्य विरहे तेन समं कीदृशो मानः ॥]

जिसके विरहमें निद्राभङ्ग, पाण्डुरता एवं दीर्घनिःश्वास उत्पन्न होता है उसके साथ किस प्रकार मानका अवलम्बन करूँ ? ॥ ७४ ॥

तेण ण मरामि मण्णूहिँ पूरिआ अज्ज जेण रे सुहअ ।
तोग्गअमणा मरन्ती मा तुज्झ पुणो वि लग्गिस्सं ॥ ७५ ॥
[तेन न म्रिये मन्युभिः पूरिताद्य येन रे सुभग ।
त्वद्गतमना म्रियमाणा मा तव पुनरपि लगिष्यामि ॥]

हे सुभग, तुम्हारी हृदयेश्वरी होकर मरनेपर भी, कहीं फिर तुम्हें पतिरूपमें न पाऊँ यही सोचकर क्रोधपूर्ण होकर भी मरना नहीं चाहती ॥ ७५ ॥

अवरज्झसु वीसद्धं सव्वं ते सुहअ विसहिमो अम्हे ।
गुणणिब्भरम्मि हिअए पत्तिअ दोसा ण माअन्ति ॥ ७६ ॥
[अपराध्यस्व विस्रब्धं सर्वं ते सुभग विषहामहे वयम् ।
गुणनिर्भरे हृदये प्रतीहि दोषा न मान्ति ॥]

हे सुभग, विस्रब्ध होकर यथाशक्ति अपराध करो, मैं तुम्हारा सब कुछ सहन करूँगी; तुम विश्वास करना कि तुम्हारे गुणोंद्वारा पूर्ण मेरा हृदय तुम्हारे दोषों को स्थान न दे सकेगा ॥ ७६ ॥

भरिउच्चरन्तपसरिअपिअसंभरणपिसुणो वराईए ।
परिवाहो विअ दुक्खस्स वहइ णअणट्ठिओ वाहो ॥ ७७ ॥
[भृतोच्चरत्प्रसृतप्रियसंस्मरणपिशुनो वराक्याः ।
परीवाह इव दुःखस्य वहति नयनस्थितो बाष्पः ॥

दीनारमणीकी आँखोंमें स्थित बाष्प, परिपूर्ण होकर निकलनेके साथ ही साथ वृद्धावस्थामें प्रिय की स्मृति का चिन्तन करते-करते दुःखके प्रचण्ड प्रवाह की नाईं प्रवाहित हो रहा है ॥ ७७ ॥

जं जं करेसि जं जं जंपसि जह तुम णिअच्छेसि ।
तं तमणुसिक्खिरीए दीहो दिअहो ण संपडइ ॥ ७८ ॥
[यद्यत्करोषि यद्यज्जल्पसि यथा त्वं निरीक्षसे ।
तत्तदनुशिक्षणशीलाया दीर्घो दिवसो न संपद्यते ॥]

तुम जो जो करते हो, जो-जो बोलते हो एवं जिस प्रकार देखते हो उसका अनुसरण करने जानेपर देखती हूँ कि मेरे दिन दूभर नहीं प्रतीत होते ॥ ७८ ॥

मग्गन्तीअ तणाइं सोत्तु दिण्णाइँ जाइँ पहिअस्स ।
ताइं च्चेअ पहाए अज्जा आअड्ढइ रुअन्ती ॥ ७९ ॥
[भर्त्सयन्त्या तृणानि स्वप्तु दत्तानि यानि पथिकस्य ।
तान्येव प्रभाते आर्या आकर्षति रुदती ॥]

भर्त्सनाकर रात्रिमें पथिकको सोनेके लिए रमणी ने तृणादि दिया था, सबेरा होनेपर उसे ही रोते रोते बटोर रही है ॥ ७९ ॥

वसणम्मि अणुव्विग्गा विहवम्मि अगव्विआ भए धीरा ।
होन्ति अहिण्णसहावा समेसु विसमेसु सप्पुरिसा ॥ ८० ॥
[व्यसनेऽनुद्विग्ना विभवेऽगर्विता भये धीराः ।
भवन्त्यभिन्नस्वभावाः समेषुविषमेषु सत्पुरुषाः ॥]

सज्जन व्यक्ति विपदामें अनुद्विग्न, सम्पद्में अगर्वित एवं भयमें धीर रहकर अनुकूल एवं प्रतिकूल परिस्थितियोंमें समस्वभावशील (स्थितप्रज्ञ) रहते हैं ॥ ८० ॥

अज्ज सहि केण गोसे कं पि मणे वल्लहं भरन्तेण ।
अम्हं मअणसराहअहिअअव्वणफोडनं गीअं ॥ ८१ ॥
[अद्य सखि केन प्रातः कामपि मन्ये वल्लभां स्मरता ।
अस्माकं मदनशराहतहृदयव्रणस्फोटनं गीतम् ॥]

अरी सखी, प्रतीत होता है कि आज प्रातःकालही जैसे कोई प्रियतमाको स्मरणकर इस प्रकार गानकर रहा है जिससे मदनबाणद्वारा आहत मेरे हृदय का घाव विदीर्ण हो रहा है ॥ ८१ ॥

उट्ठन्तमहारम्भे थणए दट्ठूण मुद्धवहुआए ।
ओसण्णकवोलाए णीससिअं पढमघरिणीए ॥ ८२ ॥
[उत्तिष्ठन्महारम्भौ स्तनौ दृष्ट्वा मुग्धवध्वा ।
अवसन्नकपोलया निःश्वसितं प्रथमगृहिण्या ॥]

शुष्क कपोल विशिष्टा प्रथमगृहिणी मुग्धवधूके आरब्ध महाविस्तार उठते हुए स्तनोंको देखकर निःश्वास फेंक रही है ॥ ८२ ॥

गरुअछुआउलिअस्स वि वल्लहकरिणीमुहं भरन्तस्स ।
सरसो मुणालकवलो गअस्स हत्थे च्चिअ मिलाणो ॥ ८३ ॥
[गुरुक्षुधाकुलितस्यापि वल्लभकरिणीमुखं स्मरत ।
सरसो मृणालकवलो गजस्य हस्त एव म्लानः ॥]

अत्यन्त क्षुधातुर होनेपर भी प्रियतमा हथिनीका मुँह स्मरणकर हाथीके शुण्डपर स्थित सरस मृणालकवलभी म्लान होता जा रहा है, भक्षित नहीं हो रहा है ॥ ८३ ॥

पसिअ पिए का कुविआ सुअणु तुमं परअणम्मि को कोवो ।
को हु परो नाथ तुमं कीस अपुण्णाण मे सत्ती ॥ ८४ ॥
[प्रसीद प्रिये का कुपिता सुतनु त्वं परजने कः कोपः ।
कः खलु परो नाथ त्वं किमित्यपुण्यानां मे शक्तिः ॥]

हे प्रिये, प्रसन्न होओ। कौन कुपित हुआ है ? सुतनु, तुमने कोप किया है ? परजनोंके प्रति कोप कैसा ? अरे पराया कौन है ? हे नाथ, तुम्हीं पराया हो। कैसे ? मेरे अपुण्य की शक्ति के सदृश ॥ ८४ ॥

एहिसि तुमं त्ति णिमिसं व जग्गिअं जामिणीअ पढमद्धं ।
सेसं संतावपरव्वसाइ वरिसं व वोलीणं ॥ ८५ ॥
[एष्यसि त्वमिति निमिषमिव जागरितं यामिन्या प्रथमार्धम् ।
शेषं सन्तापपरवशाया वर्षमिव व्यतिक्रान्तम् ॥]

'तुम आओगे' यह सोचकर रमणी ने प्रायः एक निमिषके समान प्रारंभिक रात्रि का पूर्वार्द्ध जागकर बिताया है, फिर उत्तरार्द्धको विरह सन्तप्त होकर वर्षके समान काटदिया है ॥ ८५ ॥

अवलम्बह मा सङ्कह ण इमा गहलङ्घिआ परिब्भमइ ।
अत्थक्कगज्जिउब्भन्तहित्थहिअआ पहिअजाआ ॥ ८६ ॥
[अवलम्बध्वं मा शङ्कध्वं नेयं ग्रहलङ्घिता परिभ्रमति ।
आकस्मिकगर्जितोद्भ्रान्तत्रस्तहृदया पथिकजाया ॥]

इस रमणीको पकड़ो, कोई आशङ्का मत करो, वह ग्रहादि द्वारा आक्रान्त होकर परिभ्रमण नहीं कर रही है, इस पथिकजायाका हृदय आकस्मिक मेघ-गर्जन द्वारा उद्भ्रान्त होकर त्रस्त हो गया है ॥ ८६ ॥

केसररअविच्छड्डे मअरन्दो होइ जेत्तिओ कमले ।
जइ भमर तेत्तिओ अण्णहिं पि ता सोहसि भमन्तो ॥ ८७ ॥
[केसररजःसमूहे मकरन्दो भवति यावान्कमले ।
यदि भ्रमर तावानन्यत्रापि तदा शोभसे भ्रमन् ॥]

हे भौंरे, कमलके केसरपराग समूहमें जितना मधु होता है, यदि अन्य पुष्पों में भी उतना हो मधु हो तो तुम्हारा वहाँ जाना अच्छा लगता है ॥ ८७ ॥

पेच्छन्ति अणिमिसच्छा पहिआ हलिअस्स पिट्ठपण्डुरिअं ।
धूअं दुद्धसमुद्दुत्तरन्तलच्छिं विअ सअह्णा ॥ ८८ ॥
[प्रेक्षन्तेऽनिमिषाक्षाः पथिका हलिकस्य पिष्टपाण्डुरिताम् ।
दुहितरं दुग्धसमुद्रोत्तरल्लक्ष्मीमिव सतृष्णाः ॥]

अनिमिषलोचन देवताओंने क्षीरसागरसे उत्थंगत पीतवर्ण लक्ष्मीकीओर जिसप्रकार सतृष्णभावसे देखा था, तण्डुलादि चूर्णलेपनद्वारा पीतवर्णप्राप्त हलिक पुत्रीके प्रति राहगीर भी उसी प्रकार निर्निमिष एवं सतृष्ण होकर दृष्टिपात करते हैं ॥ ८८ ॥

कस्स भरिसि त्ति भणिए को मे अत्थि त्ति जम्पमाणाए ।
उव्विग्गरोइरीए अम्हे वि रुआविआ तीए ॥ ८९ ॥
[कस्य स्मरसीति भणिते को मेऽस्तीति जल्पमानया ।
उद्विग्नरोदनशीलया वयमपि रोदितास्तया ॥]

'किसे स्मरणकर रही हो ?' ऐसा पूछे जानेपर, 'मेरा कौन है' ऐसा कहा है, उद्वेगसे रोनेवाली उस रमणीने हमलोगोंको भी रुलाया है ॥ ८९ ॥

पाअपडिअं अहव्वे किं दाणिं ण उट्ठवेसि भत्तारं ।
एअं चिअ अवसाणं दूरं पि गअस्स पेम्मस्स ॥ ९० ॥
[पादपतितमभव्ये किमिदानीं नोत्थापयसि भर्तारम् ।
एतदेवावसानं दूरमपि गतस्य प्रेम्णः ॥]

हे अनुचित व्यवहार करनेवाली, अभीतक तुम पैरोंपर गिरे हुए भर्त्तारको उठा नहीं रही हो ? अत्यन्त वृद्धि प्राप्त प्रेमकी भी यही चरमसीमा है ॥ ९० ॥

तडविणिहिअग्गहत्था वारितरङ्गेहिं घोलिरणिअम्बा ।
सालूरी पडिबिम्बे पुरिसाअन्तिव्व पडिहाइ ॥ ९१ ॥
[तटविनिहिताग्रहस्ता वारितरङ्गैर्घूर्णनशीलनितम्बा ।
शालूरी प्रतिबिम्बे पुरुषायमाणेव प्रतिभाति ॥]

जलतटपर अपना हाथ रखकर एवं अलतरङ्गद्वारा नितम्बप्रदेशको हिलाकर मेढकी अपने प्रतिबिम्बमें मानों पुरुषोचित अभ्यासकर रही है, ऐसा प्रतीत होता है ॥ ९१ ॥

सिक्करिअमणिअमुहवेविआइँ धुअहत्थसिञ्जिअव्वाइं ।
सिक्खन्तु वोडहीओ कुसुम्भ तुम्ह प्पसाएण ॥ ९२ ॥
[सीत्कृतमणितमुखवेपितानि धुतहस्तशिञ्जितव्यानि ।
शिक्षन्तु कुमार्यः कुसुम्भ युष्मत्प्रसादेन ॥]

हे कुसुम्भ, तुम्हारी कृपासेही कुमारियाँ सीत्कार, मणितनामक कूजनविशेष, मुखपरिचालन एवं हस्तकम्पजनित भूषण झनकार करने की शिक्षा पावें ॥ ९२ ॥

जेत्तिअमेत्ता रच्छा णिअम्ब कह तेत्तिओ ण जाओ सि ।
जं छिप्पइ गुरुअणलज्जिओ सरन्तो वि सो सुहओ ॥ ९३ ॥
[यावत्प्रमाणा रथ्या नितम्ब कथं तावन्न जातोऽसि ।
येन स्पृश्यते गुरुजनलज्जापसृतोऽपि स सुभगः ॥]

हे नितम्ब, रथ्या अर्थात् रास्तेका जितना परिमाण है, उतना परिमाण लेकर तुमने जन्म क्यों नहीं लिया ? कारण, गुरुओं के सामने लज्जित होकर हटजानेपर भी वह सुभग तुम्हारेद्वारा छू ही लिया जाता है ॥ ९३ ॥

मरगअसूईविद्धं व मोत्तिअं पिअइ आअअग्गीओ ।
मोरो पाउसआले तणग्गलग्गं उअअबिन्दुं ॥ ९४ ॥
[मरकतसूचीविद्धमिव मौक्तिकं पिबत्यायतग्रीवः ।
मयूरः प्रावृट्काले तृणाग्रलग्नमुदकबिन्दुम् ॥]

वर्षामें मोर विशाल ग्रीव होकर मरकतमणि सूईद्वारा विद्ध मुक्ताके समान दिखायी देनेवाला तिनका अग्र भागमें लगे हुए जलबिन्दुका पान कर रहा है [तृणलता गृह ही संकेत स्थान है ।] ॥ ९४ ॥

अज्जाइ णीलकञ्चुअभरिउव्वरिअं विहाइ थणवट्टं ।
जलभरिअजलहरन्तरदरुग्गअं चन्दबिम्बं व्व ॥ ९५ ॥
[आर्याया नीलकञ्चुकभृतोर्वरितं विभाति स्तनपृष्ठम् ।
जलभृतजलधरान्तरदरोद्गतं चन्द्रबिम्बमिव ॥]

आर्याका स्तनपृष्ठ नीलकञ्चुक द्वारा आवृत होनेपर भी (उर्वरित या

सद्वर्षित) उध्वंगत होकर जलभृत सुनील जलधरके बीचसे ईषत् उद्गत चन्द्र-मण्डलकी नाईं शोभा पा रहा है ॥ ९५ ॥

राअविरुद्धं व कहं पहिओ पहिअस्स साहइ ससङ्कं ।
जत्तो अम्बाण दलं तत्तो दरणिग्गअं किं पि ॥ ९६ ॥
[राजविरुद्धामपि कथां पथिकः पथिकस्य कथयति सशङ्कम् ।
यत आम्राणां दलं तत ईषन्निर्गतं किमपि ॥]

'आम्रवृक्षके जिस स्थानसे पत्तेका उद्गम होता है, उस स्थानसे थोड़ा थोड़ा निकला हुआ (अङ्कुर) न जाने क्या दिखायी दे रहा है? राजविरुद्ध चर्चाकी भाँति इस बातको भी एक पथिक दूसरेसे अत्यन्त शङ्कित होकर कहता है ॥ ९६ ॥

धण्णा ता महिलाओ जा दइअं सिविणए वि पेच्छन्ति ।
णिद्द व्विअ तेण विणा ण एइ का पेच्छए सिविणं ॥ ९७ ॥
[धन्यास्ता महिला या दयितं स्वप्नेऽपि प्रेक्षन्ते ।
निद्रैव तेन विना नैति का प्रेक्षते स्वप्नम् ॥]

जो प्रियको स्वप्नमें भी देख लेती है, वेही नारी धन्य हैं; उसके विरहमें मुझे निद्रा ही नहीं आती, स्वप्न कौन देखे? ॥ ९७ ॥

परिरब्भकणअकुण्डलगण्डत्थलमणहरेसु सवणेसु ।
अण्णअसमअंधसेण अ पहिरिज्जइ तालवेण्टजुअं ॥ ९८ ॥
[परिरब्धकनककुण्डलगण्डस्थलमनोहरयोः श्रवणयोः ।
अन्यसमयवशेन च परिध्रियते तालवृन्तयुगम् ॥]

कनक कुण्डलचुम्बित गण्डस्थलमें शोभित कर्णद्वयमें कालान्तरवश तालपत्रनिर्मित कर्णभूषणयुगल भी धारण होता है ॥ ९८ ॥

मज्झह्णपत्थिअस्स वि गिम्हे पहिअस्स हरइ संतावं ।
हिअअट्ठिअजाआमुहमिअङ्कजोह्लाजलप्पवहो ॥ ९९ ॥
[मध्याह्नप्रस्थितस्यापि ग्रीष्मे पथिकस्य हरति संतापम् ।
हृदयस्थितजायामुखमृगाङ्कज्योत्स्नाजलप्रवाहः ॥]

अपने हृदयस्थित जायाके मुखचन्द्रकी ज्योत्स्ना-जलप्रवाह, ग्रीष्ममें मध्याह्नके समय पथमें रुकेहुए पथिकका सन्ताप दूरकर देता है ॥ ९९ ॥

भण को ण रूसइ जणो पत्थिज्जन्तो अपसकालम्मि ।
रतिवावडा रुअन्तं पिअं पि पुत्तं सवइ माआ ॥ १०० ॥

[अत्र को न रुष्यति जनः प्रार्थ्यमानोऽदेशकाले ।
रतिव्यापृता रुदन्तं प्रियमपि पुत्रं शपते माता ॥]

अनुपयुक्त स्थान एवं असमयमें अनुनीत होनेपर कौन रुष्ट नहीं होता, बताओ तो ? रतिनिरत माताभी प्रियपुत्रके रोनेपर अभिशाप देती है ॥ १०० ॥

एत्थ चउत्थं विरमइ गाहाणँ सअं सहावरमणिज्जं ।
सोऊण जं ण लग्गइ हिअए महुरत्तणेण अमिअं पि ॥ १०१ ॥
[अत्र चतुर्थं विरमति गाथानां शतं स्वभावरमणीयम् ।
श्रुत्वा यत्र लगति हृदये मधुरत्वेनामृतमपि ॥]

स्वभावरमणीय गाथा समूहका चतुर्थ शतक यहीं समाप्त हो गया जिसे सुननेपर हृदयको अमृत भी उतना मधुर नहीं लगता ॥ १०१ ॥

पञ्चम शतक

उज्झसि उज्झसु कड्ढसि कड्ढसु अह फुडसि हिअअ ता फुडसु ।
तह वि परिसेसिओ च्चिअ सो हु मए गलिअसब्भावो ॥ १ ॥
[दह्यसे दह्यस्व क्वथ्यसे क्वथ्यस्व अथ स्फुटसि हृदय तत्स्फुट ।
तथापि परिशेषित एव स खलु मया गलितसद्भावः ॥]

अरे हृदय, दग्ध होना हो तो हो जाओ, क्वथित या पक्व होना हो तो हो जाओ, किन्तु तब भी उसे देने स्नेह या सद्भाव विगलित ही निर्धारित किया है ॥ १ ॥

दट्ठूण रुन्दतुण्डग्गणिग्गअं णिअसुअस्स दाढग्गं ।
भोण्डी विणा वि कज्जेण गामणिअडे जवे चरइ ॥ २ ॥
[दृष्ट्वा विशालतुण्डाग्रनिर्गतं निजसुतस्य दंष्ट्राग्रम् ।
सूकरी विनापि कार्येण ग्रामनिकटे यवांश्चरति ॥]

अपने पुत्रके विशाल मुखाग्रसे निकले हुए दाढ़ोंको देखकर सूकरी बिना किसी कामके गाँवके निकटस्थ जवके खेतोंमें विचरणकररही है ॥ २ ॥

हेलाकरग्गअड्ढिअजलरिक्कं साअरं पआसन्तो ।
जअइ अणिग्गहवडवग्गिभरिअगअणो गणाहिवई ॥ ३ ॥
[हेलाकराग्राकृष्टजलरिक्तं सागरं प्रकाशयन् ।
जयत्यनिग्रहवडवाग्निभृतगगनो गणाधिपतिः ॥]

शुण्डद्वारा अवज्ञापूर्वक जलपान किये जानेपर रिक्त या शून्य सागरको प्रकाशित कर निग्रहसमर्थ गणाधिपति अनिगृहीत वड़वानल द्वारा गगनमण्डल को परिपूर्ण करते-करते जययुक्त हो रहे हैं ॥ ३ ॥

एएण च्चिअ कंकेल्लि तुज्झ तं णत्थि जं ण पज्जत्तं ।
उवमिज्जइ जं तुह पल्लवेण वरकामिणीहत्थो ॥ ४ ॥
[एतेनैव कङ्केल्ले तव तन्नास्ति यन्न पर्याप्तम् ।
उपमीयते यत्तव पल्लवेन वरकामिनीहस्तः ॥]

हे अशोकवृक्ष, तुम्हारे पल्लवकेसाथ सुन्दरी कामिनीका हाथ उपमित होता है, इससे प्रतीत होता हैकि तुम्हारे पास वह है ही नहीं जो पूर्ण न हो ॥

रसिअविअड्ढ विलासिअ समअण्णअ सच्चअं असोओ सि ।
वरजुअइचलणकमलाहओ वि जं विअससि सण्हं ॥ ५ ॥
[रसिक विदग्ध विलासिन्समयज्ञ सत्यमशोकोऽसि ।
वरयुवतिचरणकमलाहतोऽपि यद्विकसिसि सतृष्णम् ॥]

हे रसिक, हे विदग्ध हे विलासी, हे अनुकूलसमयज्ञ वृक्ष, वास्तवमें तुम अशोक अथवा शोकरहित हो, कारण, श्रेष्ठ युवतीके चरणकमल द्वारा आहत होनेपर भी तुम सतृष्ण भावसे विकसित होते हो अर्थात् देखते रहते हो ॥ ५ ॥

वलिणो वाआबन्धे चोज्जं णिउणत्तणं च पअडन्तो ।
सुरसत्थकआणन्दो वामणरूवो हरी जअइ ॥ ६ ॥
[बलेर्वाबन्धे आश्चर्यं निपुणत्वं च प्रकटयन् ।
सुरसार्थकृतानन्दो वामनरूपो हरिर्जयति ॥]

बलशाली द्वारपालोंके वाक्यप्रबन्ध अर्थात् नियमरीकरणके विषयमें आश्चर्य, गुण एवं निपुणता है—इसे समझकर प्रकट करते करते सुरसपद वचनप्रयोगद्वारा सबको आनन्दित कर विनीत अथवा पराभूत पारदारापहारी विजयी हों । बलिराजा के वाक्यप्रयोग के नियमनके पक्षमें—अपनी अद्भुत क्रिया एवं नैपुण्यका भाव प्रकाशित करते करते देवसंघ को आनन्दित करनेवाले वामनरूपी विष्णु विजयी हों ॥ ६ ॥

णिव्वाविज्जइ जलणो गहवइधूआइ विव्थअसिहो वि ।
अणुमरणघणालिङ्गणपिअअमसुहसिसिरङ्गीए ॥ ७ ॥
[निर्वाप्यते ज्वलनो गृहपतिदुहित्रा विस्तृतशिखोऽपि ।
अनुमरणघनालिङ्गनप्रियतमसुखस्वेदशीताङ्ग्या ॥]

सती होनेके लिए चितापर बैठी गृहपतिकी दुहिता अनुमरणके समय प्रियतमक गाढालिङ्गनजनित सुखसे उत्पन्न स्वेदबिन्दुओंके कारण शीतलाङ्गिनी हो विस्तृतशिखाग्निको भी बुझा रही है ॥ ७ ॥

जारमसाणसमुब्भवभूइसुहप्फंससिसिरङ्गीए ।
ण समप्पइ णवकावालिआइ उद्धूलणारम्भो ॥ ८ ॥
[जारश्मशानसमुद्भवभूतिसुखस्पर्शस्वेदशीलाङ्गया ।
न समाप्यते नवकापालिक्या उद्धूलनारम्भः ॥]

जारके श्मशानसमुद्भूत भस्मद्वारा अनुलिप्त होनेके सुख द्वारा उत्पन्न

स्वेदसमुद्गमसे शीतलाङ्गिनी नवकापालिकव्रतधारिणी रमणी स्वेदनिवारणके लिए भस्मानुलेपन कार्यको समाप्त नहीं कर पा रही है ॥ ८ ॥

एक्को पण्हुअइ थणो बीओ पुलएइ णहमुहालिहिओ ।
पुत्तस्स पिअअमस्स अ मज्झणिसण्णाएँ घरणीए ॥ ९ ॥
[एकः प्रस्नौति स्तनो द्वितीयः पुलकितो भवति नखमुखालिखितः ।
पुत्रस्य प्रियतमस्य च मध्यनिषण्णाया गृहिण्याः ॥]

पुत्र एवं प्रियतमके बीच बैठनेके कारण गृहिणीका एक स्तन दुग्धपात कर रहा है और दूसरा स्तन पतिप्रेममें नखाग्रसे विद्धित हो पुलकित हो रहा है ॥ ९ ॥

एत्ताहे च्चिअ मोहं जणेइ बालत्तणे वि वट्टन्ती ।
गामणिधूआ विसकन्दलि व्व वड्ढीआ काहिइ अणत्थं ॥ १० ॥
[एतावत्येव मोहं जनयति बाल्येऽपि वर्तमाना ।
ग्रामणीदुहिता विषकन्दलीव वर्धिता करिष्यत्यनर्थम् ॥]

बालिकाकी अवस्थामें इस प्रकार वर्तमान रहकर भी ग्रामपतिकी दुहिता मोह उत्पन्न कर रही है, विषकन्दली अर्थात् विषवृक्षकी भाँति वर्द्धित होकर अनर्थ ही करवायेगी ॥ १० ॥

अप्पहुप्पन्तं महिमण्डलम्मि णहसंठिअं चिरं हरिणो ।
तारापुप्फप्पअरञ्चिअं व तइअं पअं णमह ॥ ११ ॥
[अप्रभवन्महीमण्डले नभःसंस्थितं चिरं हरेः ।
तारापुष्पप्रकराञ्चितमिव तृतीयं पदं नमत ॥]

महिमण्डलमें अपरिमित होनेके कारण बहुत देरतक नभोमण्डलमें संस्थित ताराख्य पुष्पराशि द्वारा सपूजित त्रिविक्रम विष्णुके तृतीय चरणको नमस्कार करो। [गुप्तस्थानमें अवगुंठिता वयस्याके प्रश्नके उत्तरमें नायिका रात्रिमें उपभुक्ता त्रैविक्रमबन्धाख्य रमणकलाके विषयमें दूसरेके बहानेसे बताती है ॥]

सुप्पउ तइओ वि गओ जामो त्ति सहीओ कीस मं भणह ।
सेहालिआणँ गन्धो ण देइ सोत्तुं सुअह तुम्हे ॥ १२ ॥
[सुप्यतां तृतीयोऽपि गतो याम इति सख्यः किमिति मां भणथ ।
शेफालिकानां गन्धो न ददाति स्वप्तुं स्वपित यूयम् ॥]

सखियो, तुम मुझसे यह क्यों कह रही हो कि "तीसरा यामभी बीत गया, तुम सोओ" शेफालिकाकी गन्ध मुझे सोने नहीं दे रही है, तुम सब सो जाओ ॥

कँह सो ण संभरिज्जइ जो मे तह संठिआइँ अङ्गाइं।
णिव्वत्तिए वि सुरए णिज्झाअइ सुरअरसिओव्व ॥ १३ ॥
[कथं स न स्मर्यते यो मम तथासंस्थितान्यङ्गानि।
निर्वर्तितेऽपि सुरते निध्यायति सुरतरसिक इव ॥]

जो व्यक्ति सुरतरसिकके समान, सुरतक्रियाके समाप्त होनेपर भी मेरे अङ्गोंको यथासंस्थित समझकर उनके प्रति आँख गड़ाये रहता है, उसे कैसे स्मरण न करूँ ? ॥ १३ ॥

सुक्खन्तबहलकद्दमघम्मविसूरन्तकमढपाढीणं।
दिट्ठं अदिट्ठउव्वं कालेण तलं तडाअस्स ॥ १४ ॥
[शुष्यद्बहलकर्दमघर्मखिद्यमानकमठपाठीनम्।
दृष्टमदृष्टपूर्वं कालेन तलं तडागस्य ॥

ग्रीष्मकाल तड़ागके उस अदृष्टपूर्व तलदेशको देख पाता है जिससे गहरा कीचड़ सूखता जा रहा है एवं जिसमें तापके कारण सभी कछुए एवं पाठीनमत्स्य सभी कष्ट पा रहे हैं ॥ १४ ॥

चोरिअरअसद्धालुइ मा पुत्ति भमसु अन्धआरम्मि।
अहिअअरं लक्खिज्जसि तमभरिए दीवसिहव्व ॥ १५ ॥
[चौर्यरतश्रद्धालुशीले मा पुत्रि भ्रमान्धकारे।
अधिकतरं लक्ष्यसे तमोभृते दीपशिखेव ॥]

हे चौर्यरतिमें आस्थावान् पुत्रि, अन्धकारमें मत घूमना, तमसाच्छन्न प्रदेशमें दीपशिखाकी नाईं शरीरलावण्यका अधिकतर दिखायी दे जाओगी ॥

वाहित्ता पडिवअणं ण देइ रूसेइ एक्कमेक्कस्स।
असई कज्जेण विणा पइप्पमाणे णईकच्छे ॥ १६ ॥
१. [व्याहृता प्रतिवचनं न ददाति रुष्यत्येकैकस्य।
प्रियतमके। असती कार्येण विना प्रदीप्यमाने नदीकच्छे ॥
हो विस्तृतशिखाग्निको भी कुछ जिज्ञासा करनेपर भी असती कोई उत्तर नहीं दे
जारमसाणसमुब्भ अकारण किसी किसीके ऊपर रुष्ट हो रही है ॥
ण समप्पइ णवक‌ पइव्वए ण तुह मइलिअङ्गोत्तं।
[जारश्मशानसमुद्भवभूदि‌व्व चन्दिलं ता ण कामेमो ॥ १७ ॥
न समाप्यते नवकापालिक रतिव्रते न तव मलिनत गोत्रम्।
जारके श्मशानसमुद्भूत भस्मद्वारा तावन्न कामयामहे ॥]

ठीक है, हमलोग क्या हुआ असती ही हैं। हे पतिव्रते, तुम हट जाओ। तुम्हारा गोत्र अर्थात् नाम वा कुल मलिन नहीं हुआ है; तब भी किसी व्यक्तिके जायाकी भाँति हमलोगोंने कभी नाईकी कामना नहीं की है ॥ १७ ॥

णिद्दं लहन्ति कहिअं सुणन्ति खलिअक्खरं ण जम्पन्ति ।
जाहिँ ण दिट्ठो सि तुमं ताओ च्चिअ सुहअ सुहिआओ ॥ १८ ॥

[निद्रां लभन्ते कथितं शृण्वन्ति स्खलिताक्षरं न जल्पन्ति ।
याभिर्न दृष्टोऽसि त्वं ता एव सुभग सुखिताः ॥]

हे सुभग, जिन रमणियोंने तुम्हें देखा नहीं है, वे ही सुखी हैं। कारण वे सो सकती हैं, दूसरेकी बातें सुन सकती हैं, एवं उन्हें अधरस्खलनके साथ बातचीत नहीं करनी पड़ती ॥ १८ ॥

वालअ तुमाइ दिण्णं कण्णे काऊण बोरसङ्घाडिं ।
लज्जालुइणी वि वहू घरं गआ गामरच्छाए ॥ १९ ॥

[बालक त्वया दत्तां कर्णे कृत्वा बदरसङ्घाटीम् ।
लज्जालुरपि वधूर्गृहं गता ग्रामरथ्यया ॥]

हे बालक, लज्जाशील होनेपर भी वधू तुम्हारे दिये हुए बेरगुच्छको कानमें धारण कर गाँवके पथसे घर चली गई ॥ १९ ॥

अह सो विलक्खहिअओ मए अहव्वाएँ अगहिआणुणओ ।
परवज्जणच्चरीहिं तुह्मेहिँ उवेक्खिओ एन्तो ॥ २० ॥

[अथ स विलक्षहृदयो मया अभव्यया अगृहीतानुनयः ।
परवाद्यनर्तनशीलाभिर्युष्माभिरुपेक्षितो निर्यन् ॥]

अरे, मैंने अशिष्ट होकर उसका अनुनय स्वीकार नहीं किया, इससे विधुर-हृदय हो वह क्या घरसे निकलते समय तुमलोगों द्वारा उपेक्षित हुआ है? कारण, तुम्हारा काम ही है बाजा बजाकर दूसरोंको नचा डालना ॥ २० ॥

दीसन्तो णअणसुहो णिव्वुइजणओ करेहिँ वि छिवन्तो ।
अब्भत्थिओ ण लब्भइ चन्दो व्व पिओ कलाणिलओ ॥ २१ ॥

[दृश्यमानो नयनसुखो निर्वृतिजननः कराभ्यां [अपि] स्पृशन् ।
अभ्यर्थितो न लभ्यते चन्द्र इव प्रियः कलानिलयः ॥]

दृष्टिपथमें आनेपर नयनके सुखका उत्पादक, कर अथवा किरन द्वारा संस्पर्श

करनेवर संतापहर, कलागृहतुल्य अर्थात् षोडशकलात्मक मेरा प्रिय गगनेंद्रत चन्द्रकी भाँति प्रार्थित होकर भी दुष्प्राप्य है ॥ २१ ॥

जे णीलब्भमरभरग्गगोछआ आसि णइअडुच्छङ्गे ।
कालेण वञ्जुला पिअवअस्स ते थण्णुआ जाआ ॥ २२ ॥
[ये नीलभ्रमरभरभग्नगुच्छका आसन्नदीतटोत्सङ्गे ।
कालेन वञ्जुला- प्रियवयस्य ते स्थाण्वो जाताः ॥]

हे प्रियवयस्य, नदीके किनारे जो वञ्जुल अर्थात् बेंत लतासमूह नीलभ्रमरके भारसे टूटे पड़ते थे, वे कालके प्रभावसे शाखाहीन वृक्ष के समान प्रतीत हो रहे हैं ॥ २२ ॥

खणभङ्गुरेण पेम्मेण माउआ दुम्मिअम्ह एत्ताहे ।
सिविणअणिहिलम्भेण व दिट्ठपणट्ठेण लोअम्मि ॥ २३ ॥
[क्षणभङ्गुरेण प्रेम्णा मातृष्वस दूना स्म इदानीम् ।
स्वप्ननिधिलम्भेनेव दृष्टप्रनष्टेन लोके ॥]

अरी मौसी, स्वप्नमें प्राप्त दृष्टनष्ट निधिकी भाँति क्षणभङ्गुरप्रेमसे मैं अब संसारमें अत्यन्त दुःख भोग रही हूँ ॥ २३ ॥

चावो सहावसरलं विच्छिवइ सरं गुणम्मि वि पडन्तं ।
वङ्कस्स उज्जुअस्स अ संबन्धो किं चिरं होई ॥ २४ ॥
[चापः स्वभावसरलं विक्षिपति शरं गुणेऽपि पतन्तम् ।
वक्रस्य ऋजुकस्य च संबन्धः किं चिरं भवति ॥]

धनुषकी डोरीके ऊपर स्थापित स्वभाव-सरल बाणको दूर फेंको, वक्र एवं अवक्र इन दोनोंका सम्बन्ध क्या कभी चिरस्थायी हो सकता है ? ॥ २४ ॥

पढमं वामणविहिणा पच्छा हु कओ विअम्भमाणेण ।
थणजुअलेण इमीए महुमहणेण व्व बलिबन्धो ॥ २५ ॥
[प्रथमं वामनविधिना पश्चात्खलु कृतो विजृम्भमाणेन ।
स्तनयुगलेनैतस्या मधुमथनेनेव बलिबन्धः ॥]

रमणीके ये दोनों स्तन मधुसूदन विष्णुकी भाँति पहले वामनरूप थे, बादमें सम्पूर्ण विकसित होकर बलिबन्ध (उदरचर्मबन्धन एवं विष्णुपक्षेऽपि बलिदैत्यका बन्धन) करनेमें समर्थ हुए हैं ॥ २५ ॥

मालइकुसुमाइँ कुलुञ्चिऊण मा जाणि णिव्वुओ सिसिरो ।
काअव्वा अज्ज वि णिग्गुणाणँ कुन्दाणँ वि समिद्धी ॥ २६ ॥

[मालतीकुसुमानि दृष्ट्वा मा जानीहि निर्वृतं शिशिरम्।
कर्तव्यमद्यापि निर्गुणानां कुन्दानामपि समृद्धिः॥]

ऐसा मत समझना कि केवल सगुण मालतीकुसुमके समूहको नष्टकर शिशिर सन्तुष्ट हो गया है, अभी भी निर्गुण कुन्दपुष्पसमूहकी समृद्धिको घटाना उसके लिए शेष है॥ २६॥

तुङ्गाणँ विसेसनिरन्तराणँ [सरस] वणलद्धसोहाण।
कअकज्जाणँ भडाणँ व थणाण पडणं पि रमणिज्जं॥ २७॥

[तुङ्गयोर्विशेषनिरन्तरयो [सरस] व्रणलब्धशोभयोः।
कृतकार्ययोर्भटयोरिव स्तनयोः पतनमपि रमणीयम्॥]

मानादि द्वारा उन्नत, विशेष निरन्तर अथवा समरव्यवसाय एवं युद्धादिमें प्राप्त व्रणसमूहविशिष्ट होनेके कारण अत्यन्त शोभित, विजयी योद्धाद्वयके समान उन्नत, अन्योन्यसंलग्न एवं व्रणसमूहविशिष्ट अर्थात् रतिसमय नखादि चिह्नयुक्त होनेके कारण अत्यन्त शोभित कृतकृत्य स्तनद्वयका लटक जाना भी रमणीय है॥ २७॥

परिमलणसुहा गुरुआ अलद्धविवरा सलक्खणाहरणा।
थणआ कव्वालाव व्व कस्स हिअए ण लग्गन्ति॥ २८॥

[परिमर्दनसुखा गुरुका अलब्धविवराः सलक्षणाभरणाः।
स्तनकाः काव्यालापा इव कस्य हृदये न लगन्ति॥]

मर्दनमें सुखकर, स्थूल, रन्ध्रशून्य एवं सुलक्षणाक्रान्त आभरणसे शोभित स्तन—विचारसुखकर, अर्थगुरु दोषरहित एवं गुणगणविशिष्ट अलङ्कारसे सुशोभित काव्यालापके समान—किसके हृदयमें नहीं भाते?॥ २८॥

खिप्पइ हारो थणमण्डलाहि तरुणीअ रमणपरिरम्भे।
अच्चिअगुणा वि गुणिणो लहन्ति लहुअत्तणं काले॥ २९॥

[क्षिप्यते हारः स्तनमण्डलात्तरुण्या रमणपरिरम्भे।
अर्चितगुणा अपि गुणिनो लभन्ते लघुत्वं काले॥]

रमणकालके आलिङ्गनमें तरुणी स्तनमण्डलसे हारको [illegible] रखती है। अवसर उपस्थित होनेपर अर्चितगुणवाले गुणीजन भी लघुत्व प्राप्त करते हैं। अर्थात् छोटे समझे जाते हैं॥ २९॥

अण्णो को वि सुहाओ मम्महसिहिणो हला हआसस्स।
विज्झाइ णीरसाणं हिअए सरसाणँ झत्ति पज्जलइ॥ ३०॥

[अन्य कोऽपि स्वभावो मन्मथशिखिनो हला हताशस्य ।
विध्याति नीरसानां हृदय सरसाना ज्वलति प्रत्यक्षम् ॥]

अरे, हताश (दग्ध) मदनाग्निका स्वभाव साधारण अग्निसे विलक्षण है। निरस हृदयमें वह बुझजाती है, किन्तु सरस हृदयमें तुरत धधक उठती है ॥ ३० ॥

तह तस्स माणपरिवड्ढिअस्स चिरपणअबद्धमूलस्स ।
मामि पडन्तस्स सुओ सद्दो विण पेम्मरुक्खस्स ॥ ३१ ॥

[तथा तस्य मानपरिवर्धितस्य चिरप्रणयबद्धमूलस्य ।
मातुलानि पतत श्रुत शब्दोऽपि न प्रेमवृक्षस्य ॥]

हे मामी, जो प्रेमतरु इतने मान सम्मानसे बढ़ा हुआ था एवं जिसकी जड़ चिरप्रणयमें आबद्ध थी, उसके पतनके समय कोई आवाज़ ही नहीं सुनायी पड़ी ॥ ३१ ॥

पाअपडिओ ण गणिओ पिअं भणन्तो वि अप्पिअं भणिओ ।
वच्चन्तो वि ण रुद्धो भण कस्स कए कओ माणो ॥ ३२ ॥

[पादपतितो न गणित प्रिय भणन्नप्यप्रिय भणित ।
व्रजन्नपि न रुद्धो भण कस्य कृते कृतो मान ॥]

नायकके पैरपर गिरनेपर भी तुमने उसे समझा नहीं, उसके द्वारा मीठी बातें कही जानेपर भी तुमने तीखी बातें सुनायीं, उसके चले जाने पर भी तुमने रोका नहीं। बताओ तो, किसकेलिए मानकररही हो ? ॥ ३२ ॥

पुसइ खणं धुवइ खणं पप्फोडइ तक्खणं अआणन्ती ।
मुद्धवहू थणवट्ठे दिण्णं दइएण णहरवअं ॥ ३३ ॥

[प्रोञ्छति क्षण क्षालयति क्षण प्रस्फोटयति तत्क्षणमजानती ।
मुग्धवधू स्तनपृष्ठे दत्त दयितेन नखरपदम् ॥]

समझ न सकनेके कारण स्तनपृष्ठपर प्रियतमप्रदत्त नखचिह्नको मुग्ध वधू एक क्षण पोंछ रही है, एकक्षण धोरही है एवं उसी क्षण वस्त्रादि द्वारा झाड़े डाल रही है ॥ ३३ ॥

पासरत्ते उण्णअपओहरे जोव्वणे व्व वोलीणे ।
पढमेक्कआसकुसुमं दीसइ पलिअं व धरणीए ॥ ३४ ॥

[वर्षाकाले उन्नतपयोधरे यौवन इव व्यतिक्रान्ते ।
प्रथमैककाशकुसुमं दृश्यते पलितमिव धरण्या ॥]

उन्नतपयोधर (स्तन) युक्त यौवनकी नाईं उन्नतपयोधर (मेघ) विशिष्ट वर्षाकी ऋतुके बीत जानेपर, धरणीके पके हुए बालकी भाँति एक काश-कुसुम पहले दिखायी पड़ा ॥ ३४ ॥

कत्थं गअं रइबिम्बं कत्थ पणट्ठाओ चन्दताराओ ।
गअणे बलाअपन्तिं कालो होरं व कड्ढेइ ॥ ३५ ॥
[कुत्र गतं रविबिम्बं कुत्र प्रणष्टाश्चन्द्रतारकाः ।
गगने बलाकापंक्तिं कालो होरामिवाकर्षति ॥]

दिनमें सूर्यबिम्ब कहाँ खो गया? रात्रिमें चन्द्र और तारे कहाँ भाग गए? ज्योतिर्विदोंकी ग्रहगणनार्थ रेखाचिह्नकी भाँति वर्षाकालीन आकाशको बलाकापंक्ति अङ्कित कर रही है ॥ ३५ ॥

अविरलपडन्तणवजलधारारज्जुघडिअं पअत्तेण ।
अपहुत्तो उक्खेत्तुं रसइ व मेहो महिं उअह ॥ ३६ ॥
[अविरलपतन्नवजलधारारज्जुघटितां प्रयत्नेन ।
अप्रभवन्नुत्क्षेप्तुं रसतीव मेघो महीं पश्यत ॥]

देखो, अविरल स्खलित नवजलधारारूप रज्जुमें आबद्ध महीको ऊपर न खींच सकनेके कारण, मेघ मानो शब्द कर रहा है ॥ ३६ ॥

ओ हिअअ ओहिदिअहं तइआ पडिवज्जिऊण दइअस्स ।
अत्थेक्काउल वीसम्भघाइ किं तइ समारद्धं ॥ ३७ ॥
[हे हृदय अवधिदिवसं तदा प्रतिपद्य दयितस्य ।
अकस्मादाकुल विस्रम्भघातिन् किं त्वया समारब्धम् ॥]

अरे हृदय, उस समय प्रियके प्रवास-अवधिको स्वीकार कर अकस्मात् आकुल हो विश्वासघातीकी भाँति तुमने क्या करना प्रारम्भ किया है? ॥ ३७ ॥

जो वि ण आणइ तस्स वि कहेइ भग्गाइँ तेण वलआइँ ।
अइउज्जुआ वराई अह व पिओ से हआसाए ॥ ३८ ॥
[योऽपि न जानाति तस्यापि कथयति भग्नानि तेन वलयानि ।
अतिऋजुका वराकी अथवा प्रियस्तस्या हताशायाः ॥]

जो नहीं जानते, उनसे कहती है, "मेरा वलय उसके द्वारा तोड़ा गया

है।" हो सकता है कि वह शोचनीया रमणी ही अत्यन्त सरलस्वभाववाली हो, अथवा उस हताश रमणीका प्रिय ही सरल स्वभाववाला है ॥ ३८ ॥

सामाइ गरुअजोव्वणविसेसभरिए कवोलमूलम्मि ।
पिज्जइ अहोमुहेण व कण्णवअंसेण लावण्णं ॥ ३९ ॥
[श्यामाया गुरुकयौवनविशेषभृते कपोलमूले ।
पीयतेऽधोमुखेनेव कर्णावतंसेन लावण्यम् ॥]

श्यामा नायिकाके विशाल एवं विशेष यौवनसे भरे हुए कपोलके मूलपर अधोमुख होकर कर्णाभरण मानो लावण्यपान कर रहा है ॥ ३९ ॥

सेउल्लिअसव्वङ्गी गोत्तग्गहणेण तस्स सुहअस्स ।
दूइं पट्टावन्ती तस्सेअ घरङ्गणं पत्ता ॥ ४० ॥
[स्वेदार्द्रितसर्वाङ्गी गोत्रग्रहणेन तस्य सुभगस्य ।
दूतीं प्रस्थापयन्ती (सन्दिशन्ती वा) तस्यैव गृहाङ्गणं प्राप्ता ॥]

उस सुभगका नाम ही लेनेपर अपने सारे अङ्गोंको स्वेदार्द्र कर दूतीको नायकके पास भेजनेका प्रबन्ध करते करते वह स्वयं ही उसके गृहाङ्गणमें उपस्थित हुई ॥ ४० ॥

जम्मन्तरे वि चलणं जीएण खु मअण तुज्झ अच्चिस्सं ।
जइ तं पि तेण बाणेण विज्झसे जेण हं विद्धा ॥ ४१ ॥
[जन्मान्तरेऽपि चरणौ जीवेन खलु मदन तवार्चयिष्यामि ।
यदि तमपि तेन बाणेन विध्यसि येनाहं विद्धा ॥]

अरे कामदेव, जिस बाणद्वारा तुम मुझे विद्ध कर रहे हो, उसीके द्वारा यदि उसे भी विद्ध करो तो जन्मान्तरमें भी मैं तुम्हारे चरणोंकी पूजा करूँगी ॥

णिअवक्खारोविअदेहभारणिउणं रसं लिहन्तेण ।
विअसाविऊण पिज्जइ मालइकलिआ महुअरेण ॥ ४२ ॥
[निजपक्षारोपितदेहभारनिपुणं रसं लभमानेन ।
विकास्य पीयते मालती कलिका मधुकरेण ॥]

अपने दोनों पङ्खोंपर देहका भार डालकर अत्यन्त निपुणभावसे रसास्वादन पूर्वक भौंरा मालतीकी कलिकाको विकसित कर पान कर रहा है ॥ ४२ ॥

कुरणाहो विअ पहिओ दूमिज्जइ माहवस्स मिलिएण ।
भीमेण जहिट्ठिआए दाहिणवाएण छिप्पन्तो ॥ ४३ ॥

[कुरुनाथ इव पथिको दूयते माधवस्य मिलितेन ।
भीमेन यथेच्छया दक्षिणवातेन स्पृश्यमानः ॥]

माधवसे मिलकर यदृच्छाक्रमसे भीमसेनने दक्षिण चरणद्वारा स्पर्शकर दुर्योधनको जिस प्रकार दुःखित किया था, माधव (वसन्त) से मिलकर भयानक दक्षिणपवन भी यदृच्छाक्रमसे स्पर्शकर पथिकको उसी प्रकार दुःखित कर रहा है ॥ ४३ ॥

जाव ण कोसविकासं पावइ ईसीस मालईकलिआ ।
मअरन्दपाणलोहिल्ल भमर ताबच्चिअ मलेसि ॥ ४४ ॥
[यावन्न कोषविकासं प्राप्नोतीषन्मालतीकलिका ।
मकरन्दपानलोभयुक्त भ्रमर तावदेव मर्दयसि ॥]

जबतक मालतीकलिका कोष कुछ बढ़ नहीं जाता, तबतक हे रसपानलोलुप भौंरे, तुम मर्दनमात्रसे ही संतोष प्राप्तकर रहे हो ॥ ४४ ॥

अकअण्णुअ तुज्झ कए पाउसराईसु जं मए खुण्णं ।
उप्पेक्खामि अलज्जिर अज्ज वि तं गामचिक्खिल्लं ॥ ४५ ॥
[अकृतज्ञ तव कृते प्रावृड्रात्रिषु यो मया क्षुण्णः ।
उत्प्रेक्षेऽलज्जाशील अद्यापि तं ग्रामपङ्कम् ॥]

अरे अकृतज्ञ, बरसातकी रातमें भी तेरे लिए मैंने जिस ग्रामपङ्कको खर्व किया है, अरे निर्लज्ज, उसी पङ्कको मैं आज भी देख रही हूँ ॥ ४५ ॥

रेहइ गलन्तकेसप्फलन्तकुण्डलललन्तहारलआ ।
अद्धुप्पइआ विज्जाहरि व्व पुरुसाइरी बाला ॥ ४६ ॥
[राजते गलत्केशस्खलत्कुण्डलललद्धारलता ।
अर्धोत्पतिता विद्याधरीव पुरुषायिता बाला ॥]

अर्द्धपतिता विद्याधरीकी भाँति इस बालाके पुरुषोचित रमणमें निरत होनेसे खुलते हुए केश, गिरते हुए कुण्डल एवं झूलते हुए हारलता शोभित हो रहे हैं ॥ ४६ ॥

जइ भमसि भमसु एमेअ कण्ह सोहग्गगव्विरो गोट्ठे ।
महिलाणं दोसगुणे विआरिउं अज्ज वि ण होसि ॥ ४७ ॥
[यदि भ्रमसि भ्रम एवमेव कृष्ण सौभाग्यगर्वितो गोष्ठे ।
महिलानां दोषगुणौ विचारयितुमद्यापि न भवसि ॥]

हे कृष्ण, सौभाग्यगर्वसे गर्वित होकर यदि गोष्ठमें भ्रमण करना हो तो भ्रमण करो, (किन्तु इतना करनेपर भी) तुम यदि महिलाओंके दोष गुण देखनेमें समर्थ हो सको अर्थात् नहीं हो सकोगे ॥ ४७ ॥

संझासमए जलपूरिअञ्जलिं विहडिएक्कवामअरं ।
गोरीअ कोसपाणुज्जअं व पमहाहिवं णमह ॥ ४८ ॥

[सन्ध्यासमये जलपूरिताञ्जलिं विघटितैकवामकरम् ।
गौर्याः कोपपानोद्यतमिव प्रमथाधिपं नमत ॥]

सन्ध्याके समय गौरीको प्रसादित करनेके लिए जलपूरित अञ्जलि बाँधकर बाँये करको अलगकर शपथके लिए कोपपानमें उद्यत प्रमथाधिपति (शिव) को नमस्कार करो ॥ ४८ ॥

गामणिणो सव्वासु वि पिआसु अणुमरणगहिअवेसासु ।
मम्मच्छेएसु वि वल्लहाए उवरी वलइ दिट्ठी ॥ ४९ ॥

[ग्रामण्यः सर्वास्वपि प्रियास्वनुमरणगृहीतवेषासु ।
मर्मच्छेदेष्वपि वल्लभाया उपरि वलते दृष्टिः ॥]

मृत्यु के समय ग्रामनायककी सारी प्रियाएँ अनुमरणवेषधारी होकर भी, इस मर्मच्छेदविधायक दशामें भी उसकी दृष्टि अत्यन्त वल्लभा प्रियाके ऊपर पड़ जाती है ॥ ४९ ॥

माउच्छिआसु सरसक्खराणँ वि अत्थि विसेसो पअम्पिअव्वाणं ।
णेहमइआणँ अण्णो अण्णो उवरोहमइआणं ॥ ५० ॥

[मातृष्वसृषु सरसाक्षराणामप्यस्ति विशेषः प्रजल्पितव्यानाम् ।
स्नेहमयानामन्योऽन्य उपरोधमयानाम् ॥]

हे मासी, वाक्यावलीमें समान अक्षरका प्रयोग होनेपर भी वैशिष्ट्य लक्षित होता है, कारण, स्नेहमय वचनका वैशिष्ट्य एक प्रकारका होता है और अनुरोधार्थ व्यवहृत वचनका वैशिष्ट्य दूसरे प्रकारका होता है ॥ ५० ॥

हिअआहिन्तो पसरन्ति जाइँ अण्णाइँ ताइँ वअणाइं ।
ओसरसु किं इमेहिं अहरुत्तरमेत्त भणिएहिं ॥ ५१ ॥

[हृदयेभ्य प्रसरन्ति यान्यन्यानि तानि वचनानि ।
अपसर किमेभिरधरोत्तरमात्रभणितै ॥]

हृदयसे जो वचन निकलते हैं, वे अन्य प्रकारके होते हैं। पाससे हट जाओ। इन सब कपट वचनोंसे क्या प्रयोजन? ॥ ५१ ॥

कहँ सा सोहग्गगुणं मए समं वहइ णिग्घिण तुमम्मि।
जीअ हरिज्जइ गोत्तं हरिऊण अ दिज्जए मज्झ ॥ ५२ ॥
[कथं सा सौभाग्यगुणं मया समं वहति निर्घृण त्वयि।
यस्या ह्रियते नाम हृत्वा च दीयते मह्यम् ॥]

अरे निर्दय, मेरी तुलनामें वह रमणी तुम्हारे सम्बन्धमें अधिक सौभाग्य गुण कैसे वहन करती है? कारण, उसका नाम (गोत्र) तुम्हारे द्वारा चुराया जाकर मेरे प्रति प्रयुक्त किया जा रहा है ॥ ५२ ॥

सहि साहसु सब्भावेण पुच्छिमो किं असेसमहिलाणं।
वड्ढन्ति करट्ठिअ च्चिअ वलआ दइए पउत्थम्मि ॥ ५३ ॥
[सखि कथय सद्भावेन पृच्छाम किमशेषमहिलानाम्।
वर्धन्ते करस्थिता एव वलया दयिते प्रोषिते ॥]

सखी, बोलो तो—सद्भावना सहित पूछती हूँ—क्या प्रियके प्रवास जानेपर सभी महिलाओंके हाथके वलय बढ़ जाते हैं अर्थात् ढीले पड़ जाते हैं ॥ ५३ ॥

भमइ परिओ विज्जइ उरइ उक्खिविउं से करं पसारेइ।
करिणो पङ्कखुत्तस्स णेहणिअलाइआ करिणी ॥ ५४ ॥
[भ्रमति परितः खिद्यते उत्क्षेप्तुं तस्य करं प्रसारयति।
करिणः पङ्कनिमग्नस्य स्नेहनिगडिता करिणी ॥]

पङ्कमें गिरे हुई हाथीकी स्नेहशृङ्खलासे जकड़ी हुई, हथिनी, हाथीके चारों ओर घूम रही है, खेद अनुभव कर रही है एवं उसे उठानेकेलिए अपना सूँड़ फैला रही है ॥ ५४ ॥

रइकेलिहिअणिअंसणकरकिसलअरुद्धणअणजुअलस्स।
रुद्दस्स तइअणअणं पव्वइपरिउम्बिअं जअइ ॥ ५५ ॥
[रतिकेलिहृतनिवसनकरकिसलयरुद्धनयनयुगलस्य।
रुद्रस्य तृतीयनयनं पार्वतीपरिचुम्बितं जयति ॥]

जिस रुद्रने रतिकेलिके समय पार्वतीका वस्त्रापहरण कर लिया था एवं जिसके नयनयुगल करकिसलय द्वारा मूँद दिये गए थे उसी रुद्रका पार्वती चुम्बित तृतीयनेत्र विजयी हो ॥ ५५ ॥

धावइ पुरओ पासेसु भमइ दिट्ठीपहम्मि संठाइ ।
णवलइकरस्स तुह हलियाउत्त दे पहरसु वराइं ॥ ५६ ॥
[धावति पुरतः पार्श्वयोर्भ्रमति दृष्टिपथे संतिष्ठते ।
नवलतिकाकरस्य तव हलिकपुत्र हे प्रहरस्व वराकीम् ॥]

हे हलिकपुत्र, तुम्हारे हाथमें नवलतिका ले लेनेके कारण यह रमणी तुम्हारे निकट दौड़ रही है, तुम्हारे पास घूम रही है एवं तुम्हारे दृष्टिपथमें ही संस्थित रह रही है । तुम उस शोचनीयापर लतिका द्वारा प्रहार करो ॥ ५६ ॥

कारिमआणन्दवडं भामिज्जन्तं वहुअ सहिआहिं ।
पेच्छइ कुमरिआरो हासुम्मिस्सेहिं अच्छीहिं ॥ ५७ ॥
[कृत्रिमानन्दपटं भ्राम्यमाणं वध्वा सखीभिः ।
प्रेक्षते कुमारीजारो हासोन्मिश्राभ्यामक्षिभ्याम् ॥].

कुमारीका जार सखियों द्वारा घुमाये जाते हुए वधूके कृत्रिम आनन्दपट (प्रथमपुष्पवतीका वस्त्र) को हँसीयुक्त नेत्रोंसे देख रहा है ॥ ५७ ॥

सणिअं सणिअं ललिअङ्गुलीअ मअणवडलाअणमिसेण ।
बन्धेइ धवलवणट्टअं व वणिआहरे तरुणी ॥ ५८ ॥
[शनकैः शनकैर्ललिताङ्गुल्या मदनपटलापनमिषेण ।
बध्नाति धवलव्रणपट्टमिव व्रणिताधरे तरुणी ॥]

व्रणयुक्त अधरपर अँगुलीद्वारा शनैः शनैः मधूच्छिष्ट (मोम) लेपन करनेके बहाने तरुणी मानो उसपर श्वेत पट्टी बाँधे दे रही है ॥ ५८ ॥

रइविरमलज्जिआओ अप्पत्तणिअंसणाओँ सहस व्व ।
ढक्कन्ति पिअअमालिङ्गणेण जहणं कुलवहूओ ॥ ५९ ॥
[रतिविरामलज्जिता अप्राप्तनिवसनाः सहसैव ।
आच्छादयन्ति प्रियतमालिङ्गनेन जघनं कुलवध्वः ॥]

रमणके विरामके समय लज्जिता कुलवधुएँ सहसा वस्त्र न पाकर प्रियतम को आलिङ्गित ही कर अपने अंगोंको ढँकती हैं ॥ ५९ ॥

पाअडिअं सोहग्गं तम्बाए उअह गोट्ठमज्झम्मि ।
दुट्ठवसहस्स सिङ्गे अच्छिउडं कण्डुअन्तीए ॥ ६० ॥
[प्रकटितं सौभाग्यं गवा पश्यत गोष्ठमध्ये ।
दुष्टवृषभस्य शृङ्गे अक्षिपुटं कण्डूयन्त्या ॥]

देखो, गोष्ठमें दुष्ट वृषभके सींगमें अपने पुत्रको रगड़कर गाय सौभाग्य प्रकट कर रही है ॥ ६० ॥

उअ संभमविक्खित्तं रमिअव्वअलेहलाएँ असईए ।
णवरङ्गअं कुडङ्गे धअं व दिण्णं अविणअस्स ॥ ६१ ॥
[पश्य सम्भ्रमविक्षिप्तं रन्तव्यलम्पटया असत्या ।
नवरङ्गकं कुञ्जे ध्वजमिव दत्तमविनयस्य ॥]

रमणलम्पटा असतीद्वारा कुञ्जमें, अविनयके ध्वजपट रूपमें प्रयुक्त संभ्रम-विक्षिप्त कौसुम्भवस्त्रको देखो ॥ ६१ ॥

हत्थप्फंसेण जरग्गवी वि पण्हअइ दोहअगुणेण ।
अवलोअणपण्हुइरिं पुत्तअ पुण्णेहिँ पाविहिसि ॥ ६२ ॥
[हस्तस्पर्शेन जरद्गव्यपि प्रस्नौति दोहदगुणेन ।
अवलोकनप्रस्नवनशीलां पुत्रक पुण्यैः प्राप्स्यसि ॥]

अरे बेटे, दोहदके (दूध देनेवालेके) गुणवश हस्तस्पर्शमात्रसे अकर्मण्य बूढ़ी भी दुग्धपात करती है, किन्तु देखने मात्रसे प्रस्रवणशीला (अनुरक्ता रमणी) को तुम अपने सुकृतोंके फलसे ही पा सकोगे ॥ ६२ ॥

मसिणं चङ्कमन्ती पए पए कुणइ कीस मुहभङ्गं ।
णूणं से मेहलिआ जहणगअं छिवइ णहपन्तिं ॥ ६३ ॥
[मसृणं चङ्क्रम्यमाणा पदे पदे करोति किमिति मुखभङ्गम् ।
नूनं तस्या मेखलिका जघनगतां स्पृशति नखपंक्तिम् ॥]

समतल स्थानपर चलते-चलते यह रमणी मुँह क्यों बना रही है ? निश्चय ही उसकी मेखला (करधनी) जघनगत नखक्षतपंक्तिको छू (रगड़) रही है (उसी की व्यथा से मुँह बना रही है) ॥ ६३ ॥

संवाहणसुहरसतोसिएण देन्तेण तुह करे लक्खं ।
चलणेण विक्कमाइत्तचरिअं अणुसिक्खिअं तिस्सा ॥ ६४ ॥
[संवाहनसुखरसतोषितेन ददता तव करे लाक्षाम् ।
चरणेन विक्रमादित्यचरितमनुशिक्षितं तस्याः ॥]

उस युवतीके चरणको तुम्हारे संवाहनकार्यद्वारा सुखरस पानेसे तुष्ट होकर तुम्हारे हाथमें 'लाखा' चिह्न प्रदान करनेसे मालूम पड़ता है कि इसने विक्रमादित्यके चरितका अनुसरण करना सीखा है ॥ ६४ ॥

पाअपडणाणँ मुद्धे रहसबलामोडिचुम्बिअव्वाणं।
दंसणमेत्तपसण्णे चुक्कासि सुहाणँ बहुआणं॥ ६५॥
[पादपतनानां मुग्धे रभसबलात्कारचुम्बितव्यानाम्।
दर्शनमात्रप्रसन्ने भ्रष्टासि सुखानां बहुकानाम् ॥]

हे मुग्धे, तुम प्रियके दर्शन मात्रसे प्रसन्न हो जाती हो ; किन्तु, पादपतन, वेग एवं बलात्कारके साथ चुम्बनादि जनित बहु प्रकारके सुखसे भ्रष्ट या उससे वञ्चित हो जाती हो॥ ६५॥

हे सुअणु पसिअ एहिं पुणो वि सुलहाइं रूसिअव्वाइं।
एसा मअच्छि मअलञ्छणुज्जला गलइ छणराई॥ ६६॥
[हे सुतनु प्रसीदेदानीं पुनरपि सुलभानि रोषितव्यानि।
एषा मृगाक्षि मृगलाञ्छनोज्ज्वला गलति क्षणरात्रिः ॥]

हे सुतनु, अब प्रसन्न होओ, किसी दूसरे समय रोष भाव फिर सुलभ होगा। हे मृगलोचने, चन्द्रोज्ज्वला उत्सव रजनी बीतती जा रही है॥ ६६॥

आवण्णाइं कुलाइं दो च्चिअ जाणन्ति उण्णइं णेउं।
गोरीअ हिअअदइओ अहवा सालाहणणरिन्दो॥ ६७॥
[आपन्नानि कुलानि द्वावेव जानीत उन्नतिं नेतुम्।
गौरीहृदयदयितोऽथवा शालिवाहनरेन्द्रः ॥]

आपद्युक्त कुलको (पक्षान्तरमें आपर्ण अर्थात् अपर्णा पर्वतीय कुलको) उन्नति दो ही व्यक्ति कर सकते हैं, गौरीके हृदयवल्लभ या शालिवाहन वंशके नरपति॥ ६७॥

णिक्कण्ड दुरारोहं पुत्तअ मा पाडलिं समारुहसु।
आरुहणिवडिआ के इमीअ ण कआ हआसाए॥ ६८॥
[निष्काण्डदुरारोहां पुत्रक मा पाटलिं समारोह।
आरूढनिपतिता के अनया न कृता हताशया॥]

हे पुत्रक, शाखाविहीन आरोहण में कष्टसाध्य इस पाटलि (पाटल) पुष्पवृक्षपर मत चढ़ना। इस हताश पाटलिने किसे चढ़ाकर गिरा नहीं दिया है ?॥ ६८॥

गामणिघरम्मि अत्ता एक्क च्चिअ पाडला इहग्गामे।
बहुपाडलं च सीसं दिअरस्स ण सुन्दरं एअं॥ ६९॥

[ग्रामतिगृहे श्वश्रु एकैव पाटला इह ग्रामे ।
बहुपाटलं च शीर्षं देवरस्य न सुन्दरमेतत् ॥]

हे श्वश्रु, इस ग्राममें केवल ग्रामणीक यहाँ एक पाटलावृक्ष है। देवरका मस्तक तो अनेक पाटलोंद्वारा युक्त दिखायी देता है, यह तो अच्छा काम नहीं है ॥ ६९ ॥

अण्णाणँ वि होन्ति मुहे पम्हलधवलाइँ दीहकसणाइं ।
णअणाइँ सुन्दरीणं तह वि हु दट्ठुं ण जाणन्ति ॥ ७० ॥
[अन्यासामपि भवन्ति मुखे पक्ष्मलधवलानि दीर्घकृष्णानि ।
नयनानि सुन्दरीणां तथापि खलु द्रष्टुं न जानन्ति ॥]

अन्यान्य अनेक सुन्दरियोंके मुखमें पक्ष्मल (पलक-जैसे) धवल एवं दीर्घकृष्ण नयनयुगल वर्तमान रहते हैं, तथापि वे नयन (भ्रूविलासादि के साथ) देखना नहीं जानते ॥ ७० ॥

हंसेहि व तुह रणअलअसमअभअचलिअविहलपक्खेहिं ।
परिसेसिअपोम्मासेहिँ माणसं गम्मइ रिऊहिं ॥ ७१ ॥
[हंसैरिव तव रणजलदसमयभयचलितविह्वलपक्षैः ।
परिशेषितपद्माशैर्मानसं गम्यते रिपुभिः ॥]

हे राजन्, हंसोंकी भाँति तुम्हारे शत्रु (सेनाद्वारा) तुम्हारे मनका अनु-गमन अर्थात् छन्दानुवर्तन करते हैं। कारण, उनके स्वपक्षीयगण तुम्हारे रणरूप जलद समयको उपस्थित देखकर विह्वलचित्तसे भाग रहे हैं एवं उनकी श्रीप्राप्ति की आशा शेष हो रही है, हंसगण भी जलद समय उपस्थित होनेपर विह्वल होकर भागना आरम्भ करते हैं एवं पद्मप्राप्तिकी आशा शेष है सोचकर मान-सरोवरकी ओर दौड़ पड़ते हैं ॥ ७१ ॥

दुग्गअघरम्मि घरिणी रक्खन्ती आउलत्तणं पइणो ।
पुच्छिअदोहलसद्धा पुणो वि उअअं विअ कहेइ ॥ ७२ ॥
[दुर्गतगृहे गृहिणी रक्षन्ती आकुलत्वं पत्युः ।
पृष्टदोहदश्रद्धा पुनरप्युदकमेव कथयति ॥]

किस दोहद (गर्भवतीकी नाना प्रकारकी साध) की तुम्हें इच्छा है, पतिसे ऐसा पूछी जानेपर भी दुर्गत घरकी पत्नी पतिकी व्याकुलता दूर करनेके लिए बारबार पानी ही माँग रही है ॥ ७२ ॥

आअम्बलोअणाणं ओल्लंसुअपाअडोरुजहणाणं ।
अवरह्णमज्जिरीणं कए ण कामो वहइ चावं ॥ ७३ ॥
[आताम्रलोचनानामार्द्रांशुकप्रकटोरुजघनानाम् ।
अपराह्णमज्जनशीलानां कृते न कामो वहति चापम् ॥]

गीले कपड़े पहननेके कारण जिनके उरु एवं जघनस्थल प्रकट हैं, जिनके नेत्र ताम्रवर्ण किञ्चित् आरक्त हैं—अपराह्ण समय जलमें मज्जन (स्नान) करनेवाली उन सब रमणियोंके लिए कामदेव धनुष नहीं लेते ॥ ७३ ॥

के उव्वरिआ के इह ण खण्डिआ के ण लुत्तगुरुविहवा ।
णहराइं वेसिणिओ गणणारेहा व्व वहन्ति ॥ ७४ ॥
[के उर्वरिता के इह न खण्डिता के न लुप्तगुरुविभवाः ।
नखराणि वेश्या गणनारेखा इव वहन्ति ॥]

कितने पुरुष अत्यन्त आकृष्ट नहीं हुए हैं, कितने पुरुष खण्डित (भग्नमन) नहीं हुए हैं और कितने पुरुष विपुलवैभव नहीं खो चुके हैं, वेश्याएँ इस विषय की गणना रेखाके रूपमें कामुकप्रदत्त नखचिह्न धारण करती हैं ॥ ७४ ॥

विरहेण मन्दरेण व हिअअं दुद्धोअहिं व महिऊण ।
उम्मूलिआइँ अव्वो अम्हं रअणाइँ व सुहाइं ॥ ७५ ॥
[विरहेण मन्दरेणेव हृदयं दुग्धोदधिमिव मथित्वा ।
उन्मूलितानि कष्टमस्माकं रत्नानीव सुखानि ॥]

मन्दार पर्वत जिसप्रकार क्षीरसागरको मथकर रत्नोंको निकालता है, अहो, तुम्हारा विरह भी उसी प्रकार हृदयको मथकर इसके सारे सुखोंको समूल नष्ट कर देता है ॥ ७५ ॥

उज्जुअरए ण तूसइ वङ्कम्मि वि आअमं विअप्पेइ ।
एत्थ अहव्वाएँ मए पिए पिअं कहँ णु काअव्वं ॥ ७६ ॥
[ऋजुकरते न तुष्यति वक्रेऽप्यागमं विकल्पयति ।
अत्राभव्यया मया प्रिये प्रियं कथं नु कर्तव्यम् ॥]

पति हावभावशून्य रतिसे तुष्ट नहीं होता, वक्ररतिसे भी (कहाँ सीखा) सोचविचारकर सन्देह करता है। मैं अब अशिष्टा हूँ तब प्रियके प्रति प्रिय आचरण किस प्रकार करूँगी ? ॥ ७६ ॥

बहुविहविलाससरसिए सुरए महिलाणँ को उवज्झाओ ।
सिक्खइ असिक्खिआइँ वि सव्वो णेहाणुबन्धेण ॥ ७७ ॥

[बहुविधविलासरसिके सुरते महिलानां क उपाध्यायः ।
शिक्षन्ते अशिक्षितान्यपि सर्वं स्नेहानुबन्धेन ॥]

बहुविध विलासरससयुक्त सुरतके सम्बन्धमें महिलाओंका (अन्य) शिक्षक कौन है ? स्नेहानुबन्धन ही सबको अशिक्षित वस्तुकी शिक्षा दे देता है ॥७७॥

वण्णवसिए विअत्थसि सच्चं चिअ सो तुए ण संभविओ ।
ण हु होन्ति तम्मि दिट्ठे सुत्थावत्थाइँ अङ्गाइं ॥ ७८ ॥
[वर्णवशिते विकत्थसे सत्यमेव स त्वया न सम्भावितः ।
न खलु भवन्ति तस्मिन्दृष्टे स्वस्थावस्थान्यङ्गानि ॥]

अरी नायक गुण वर्णनद्वारा वशीकृत हृदये, तुम व्यर्थ ही आत्मश्लाघा प्रकट करती हो । किन्तु वस्तुतः तुमने उसे दृष्टिद्वारा सम्भावित या अनुगृहीत नहीं किया है । कारण, उसके एक बार दिखायी पड़ जाने पर अङ्ग स्वस्थ नहीं रह सकते ॥ ७८ ॥

आसण्णविवाहदिणे अहिणववहुसङ्गमुस्सुअमणस्स ।
पढमघरिणीअ सुरअं वरस्स हिअए ण संठाइ ॥ ७९ ॥
[आसन्नविवाहदिने अभिनववधूसङ्गमोत्सुकमनसः ।
प्रथमगृहिण्याः सुरतं वरस्य हृदये न संतिष्ठते ॥]

आसन्न विवाहके दिन नववधूके सङ्गम प्राप्तिके लिए उत्सुकचित्त वरके हृदयमें प्रथम गृहिणीकी सुरतकथा स्थान प्राप्त नहीं करती ॥ ७९ ॥

जइ लोअणिन्दिअं जइ अमङ्गलं जइ विमुक्कमज्जाअं ।
पुप्फवइदंसणं तह वि देइ हिअअस्स णिव्वाणं ॥ ८० ॥
[यदि लोकनिन्दितं यद्यमङ्गलं यदि विमुक्तमर्यादम् ।
पुष्पवतीदर्शनं तथापि ददाति हृदयस्य निर्वाणम् ॥]

पुष्पवती रमणीका दर्शन यदि लोकनिन्दित भी हो, यदि अमङ्गलजनक भी हो एवं यदि मर्यादालङ्घनदोषसे दूषित भी हो, तब भी वह हृदयमें सुख उत्पन्न करता है ॥ ८० ॥

जइ ण छिवसि पुप्फवइं पुरओ ता कीस वारिओ ठासि ।
छित्तोसि चुलचुलन्तेहिँ धाविऊण अम्ह हत्थेहिं ॥ ८१ ॥
[यदि न स्पृशसि पुष्पवतीं पुरतस्तत्किमिति वारितस्तिष्ठसि ।
स्पृष्टोऽसि चुलचुलायमानैर्धावित्वास्माकं हस्तैः ॥]

यदि पुष्पवतीको छूओगे नहीं तो, वर्जित होने पर भी सामने क्यों खड़े हो? मेरे चुल्चुलायमान (चञ्चल) हाथने भागकर तुम्हें छू लिया ॥ ८१ ॥

उज्जागरअकसाइअगुरुअच्छी मोहमण्डणविलक्खा ।
लज्जइ लज्जालुइणी सा सुहअ सहीहिँ वि वराई ॥ ८२ ॥

[उज्जागरककषायितगुरुकाक्षी मोघमण्डनविलक्षा ।
लज्जते लज्जाशीला सा सुभग सखीभ्योऽपि वराकी ॥]

हे सुभग, मेरी इस हतभागिनी एवं लज्जाशीलाका नयनयुगल अभिजागरणके कारण आरक्त एवं भाराक्रान्त हुआ है। निरर्थक अलङ्करणसे यह विमूढ़ा होकर सखियोंसे भी लज्जित हो रही है ॥ ८२ ॥

ण वि तह अइ गरुएण वि तम्मइ हिअए भरेण गब्भस्स ।
जह विवरीअणिहुअणं पिअम्मि सोह्णा अपावन्ती ॥ ८३ ॥

[नापि तथातिगुरुकेणापि ताम्यति हृदये भरेण गर्भस्य ।
यथा विपरीतनिधुवनं प्रिये स्नुषा अप्राप्नुवती ॥]

गर्भिणी पुत्रवधू प्रियतमके साथ विपरीत विहारभोग नहीं कर सकेगी। यह सोचकर मन ही मन जितनी दुखी हो रही है, उतनी दुखी तो गर्भके गम्भीर भारसे भी नहीं हो रही है ॥ ८३ ॥

अगणिअजणाववाअं अवहरिअगुरुअणं वराईए ।
तुह गलिअदंसणाए तीए वलिऊण चिरं रुण्णं ॥ ८४ ॥

[अगणितजनापवादमपहरितगुरुजनं वराक्या ।
तव गलितदर्शनया तया वलित्वा चिरं रुदितम् ॥]

तुम्हें देख न पानेके कारण वह बेचारी लोकापवादकी चिन्ता एवं गुरुजनोंको अवमानित कर मुँह फिराकर बहुत देरसे रोदन कर रही है ॥८४॥

हिअअं हिअए णिहिअं चित्तालिहिअ व्व तुह मुहे दिट्ठी ।
आलिङ्गणरहिआइं णवरं खिज्जन्ति अङ्गाइं ॥ ८५ ॥

[हृदयं हृदये निहितं चित्रालिखितेव तव मुखे दृष्टिः ।
आलिङ्गनरहितानि केवलं क्षीयन्तेऽङ्गानि ॥]

सखी तुम्हारे हृदयमें अपना हृदय संस्थापित रखती है। तुम्हारे मुखपर उसकी दृष्टि चित्राङ्किताकी भाँति संलग्न है—केवल आलिङ्गनरहित होनेके कारण उसके अङ्ग क्षीण होते जा रहे हैं ॥ ८५ ॥

अहअं विओअतणुई दुसहो विरहाणलो चलं जीअं ।
अप्पाहिज्जउ किं सहि जाणसि तं चेव जं जुत्तं ॥ ८६ ॥
[अहं वियोगतन्वी दुःसहो विरहानलश्चलं जीवम् ।
अभिधीयतां किं सखि जानासि त्वमेव यद्युक्तम् ॥]

मैं प्रियके विरहमें कृश हुई हूँ, विरहाग्नि दुःसह प्रतीत हो रही है, जीवन भी चञ्चल अर्थात् गमनोन्मुख हो गया है। अरी सखी, इस समय जो उपयुक्त हो, उसीका उपदेश दे ॥ ८६ ॥

तुह विरहुज्जागरओ सिविणे वि ण देइ दंसणसुहाइं ।
बाहेण जहालोअणविणोअणं से हअं तं वि ॥ ८७ ॥
[तव विरहोज्जागरकः स्वप्नेऽपि न ददाति दर्शनसुखानि ।
बाष्पेण यदालोकनविनोदनं तस्या हतं तदपि ॥]

तुम्हारा विरहजनित जागरण स्वप्नमें भी तुम्हारे दर्शनसे उत्पन्न सुख नहीं दे रहा है। जो देखनेमें थोड़ा बहुत अच्छा भी लगता है वह भी तुम्हारे आँसुओंसे आच्छन्न होनेके कारण नष्ट प्रतीत होता है ॥ ८७ ॥

अण्णावराहकुविओ जहतह कालेण गम्मइ पसाअं ।
वेसत्तणावराहे कुविअं कहं तं पसाइस्सं ॥ ८८ ॥
[अन्यापराधकुपितो यथातथा कालेन गच्छति प्रसादम् ।
द्वेष्यात्वापराधे कुपितं कथं तं प्रसादयिष्यामि ॥]

मेरा यदि अन्य किसी प्रकारके अपराधसे वह कुपित होते तो जिस किसी प्रकार समय पाकर उसे प्रसन्न कर लिया जाता। किन्तु मेरे प्रति द्वेष्य भावरूप अपराध होनेके कारण,उसे किस प्रकार प्रसन्न करूँगी ॥ ८८ ॥

दीससि पिआणि जम्पसि सब्भावो सुहअ एत्तिअ च्चेअ ।
फालेऊण हिअअं साहसु को दावए कस्स ॥ ८९ ॥
[दृश्यसे प्रियाणि जल्पसि सद्भावः सुभग एतावानेव ।
पाटयित्वा हृदयं कथय को दर्शयति कस्य ॥]

हे सुभग, तुम्हारा इतना सद्भाव है कि तुम मुझे दर्शन देते हो एवं मुझसे प्रिय बातें करते हो, किन्तु बताओ तो, कौन किसे हृदय चीरकर दिखावे ?

उअअं लहिऊण उत्ताणिआणणा होन्ति के वि सविसेसं ।
रित्ता णमन्ति सुहरं रहट्टघडिअ व्व कापुरिसा ॥ ९० ॥

[उदकं लब्ध्वा उत्तानिताननाः भवन्ति केऽपि सविशेषम् ।
रिक्ताः नमन्ति सुचिरं रहट्ट (अरघट्ट) घटिका इव कापुरुषाः ॥]

कोई-कोई क्षुद्र पुरुष घटी यन्त्रमें स्थित घटिकाकी भाँति जल पानेपर (अल्प सम्पत्ति पाकर) विशेष प्रकारसे मस्तक ऊँचा कर लेते हैं एवं रिक्तावस्थामें बहुत देर तक नम्र रहते हैं ॥ ९० ॥

भगणपिअसङ्गमं केत्तिअं व जोह्णाजलं णहसरम्मि ।
चन्दअरपणालणिज्झरणिवहपडन्तं ण णिट्ठाइ ॥ ९१ ॥
[भप्रियसङ्गमं कियदिव ज्योत्स्नाजलं नभःसरसि ।
चन्द्रकरप्रणालनिर्झरनिवहपतत् न निस्तिष्ठति ॥]

आकाशरूपी सरोवरमें प्रियसङ्गमसङ्गकारी ज्योत्स्नाजल और कितना है ? चन्द्रकिरणरूप प्रणालनिर्झरसमूह (परनाले) से गिरकर यह तो समाप्त ही नहीं हो रहा है ॥ ९१ ॥

सुन्दरजुआणजणसङ्कुले वि तुह दंसणं विमग्गन्ती ।
रण्ण व्व भमइ दिट्ठी वराइआए समुव्विग्गा ॥ ९२ ॥
[सुन्दरयुवजनसङ्कुलेऽपि तव दर्शनं विमार्गयन्ती ।
अरण्य इव भ्रमति दृष्टिर्वराकिकायाः समुद्विग्ना ॥]

बहुत सुन्दर युवकोंसे भरे हुए स्थानमें भी तुम्हारे दर्शनकी खोज करके ही इस बेचारीकी दृष्टि समुद्विग्न हो मानो अरण्य अथवा शून्यमें घूम रही है ॥

अइकोवणा वि सासू रुआविआ गअवईअ सोह्णाए ।
पाअपडणोण्णआए दोसु वि गलिएसु वलएसु ॥ ९३ ॥
[अतिकोपनापि श्वश्रू रोदिता गतपतिकया स्नुषया ।
पादपतनावनतया द्वयोरपि गलितयोर्वलययोः ॥]

अनाथार्थं पाद पतनमें अवनता प्रोषितभर्तृका पुत्रवधू, उसके हाथमें स्थित दोनों वलय ही ढीले हो रहे हैं। ऐसा देखकर अत्यन्त क्रोधी स्वभाववाली सासको भी दुःखिता रुला रही है ॥ ९३ ॥

रोवन्ति व्व अरण्णे दूसहरइकिरणफंस संतत्ता ।
अइतारझिल्लिविरुएहिं पाअवा गिम्हमज्झह्णे ॥ ९४ ॥
[रुदन्तीवारण्ये दुःसहरविकिरणस्पर्शसंतप्ताः ।
अतितारझिल्लीविरुतैः पादपा ग्रीष्ममध्याह्ने ॥]

ग्रीष्मकी दुपहरीमें जड्गलमें झिल्लीकीट समूह अत्यन्त तीव्र स्वरमें शोर कर रहे हैं। दुस्सह सूर्यकिरणोंके स्पर्शसे सन्तप्त हो वृक्षसमूह रो रहे हैं॥ ९४॥

पढमणिलीणमहुअरमहुलोहल्लालिउलबद्धझंकारं।
अहिमअरकिरणणिउरम्बचुम्बिअं दलइ कमलवणं॥ ९५॥
[प्रथमनिलीनमधुकरमधुलुब्धालिकुलबद्धझंकारम्।
अहिमकरकिरणनिकुरम्बचुम्बितं दलति कमलवनम्॥]

पहले आये हुए मधुकरमधुलोलुप मधुकरकुलके गुञ्जनसे मुखरित कमलवन उष्णकिरणसूर्यकी रश्मियोंद्वारा चुम्बित या स्पृष्ट होकर प्रस्फुटित हो रहा है॥ ९५॥

गोत्तक्खलणं सोऊण पिअअमे अज्ज तीअ खणदिअहे।
वज्झमहिसस्स माल व्व मण्डणं उअह पडिहाइ॥ ९६॥
[गोत्रस्खलनं श्रुत्वा प्रियतमे अद्य तस्याः क्षणदिवसे।
वध्यमहिषस्य मालेव मण्डनं पश्यत प्रतिभाति॥]

देखो, आज इस उत्सवके दिन प्रियतमके मुँहसे गोत्रस्खलन सुननेके कारण, इस महिलाकी शोभा मानो वध्यमहिषके गलेमें बाँधी हुई मालाकी भाँति प्रतिभात हो रही है॥ ९६॥

महमहइ मलअवाओ अत्ता वारेइ मं घराणेन्तीं।
अङ्कोल्लपरिमलेण वि जो मरइ मओ सो मओ च्चेअ॥ ९७॥
[महमहायते मलयवातः श्वश्रूर्वारयति मां गृहान्निर्यान्तीम्।
अङ्कोटपरिमलेनापि यः खलु मृतः स मृत एव॥]

मलयपवन उत्कट सौरभ वहन कर रहा है, इसी कारण सास मुझे घरसे निकलनेको मना कर रही है। किन्तु गृहवाटिकास्थित अङ्कोटवृक्षके परिमलसे जिसे मारा जाता है, वह मारी जायेगी॥ ९७॥

मुहपेच्छओ पई से सा वि हु सविसेसदंसणुम्मइआ।
दोवि कअत्था पुहइं अमहिलपुरिसं व मण्णन्ति॥ ९८॥
[मुखप्रेक्षकः पतिस्तस्याः सापि खलु सविशेषदर्शनोन्मत्ता।
द्वावपि कृतार्थौ पृथिवीममहिलापुरुषामिव मन्येते॥]

उसका पति सदैव ही उसके मुखदेखका दर्शनाकांक्षी है। वह भी पतिका मुख देखनेके लिए विशेषतः उन्मत्त रहती है। इस प्रकार दोनों ही परस्पर

कृतार्थ होनेके कारण सोचते हैं कि पृथिवीपर कोई दूसरा पुरुष या कोई दूसरी स्त्री नहीं है ॥ ९८ ॥

खेमं कत्तो खेमं जो सो खुज्जम्बओ घरद्दारे।
तस्स किल मत्थआओ को वि अणत्थो समुप्पण्णो ॥ ९९ ॥
[क्षेमं कुतः क्षेम योऽसौ कुब्जाम्रको गृहद्वारे।
तस्य किलमस्तकात्कोऽप्यनर्थः समुत्पन्नः ॥]

मेरा कुशल कैसे सम्भव है? घरके दरवाजेपर जो छोटा आमका पेड़ है, वही हमारे कुशल क्षेमकी सूचना देता है। इसके मस्तकसे क्या एक अनर्थमूल (मुकुल) उत्पन्न हो रहा है? ॥ ९९ ॥

आउच्छणविच्छायं जाआए मुहं णिअच्छमाणेण।
पहिएण सोअणिअलाविएण गन्तुं विअ ण इट्ठं ॥ १०० ॥
[आपृच्छनविच्छायं जायायाः मुखं निरीक्षमाणेन।
पथिकेन शोकनिगडितेन गन्तुमेव नेष्टम् ॥]

विदाईके समय जायाका मुखड़ा शुष्क एवं मलिन देखकर पथिकने शोक निमग्न होकर जानेकी इच्छा ही नहीं की ॥ १०० ॥

रसिअजणहिअअदइए कइवच्छल पमुहसुकइणिम्मइए।
सत्तसअम्मि समत्तं पञ्चमं गाहासअं एअं ॥ १०१ ॥
[रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखसुकविनिर्मिते।
सप्तशतके समाप्तं पञ्चमं गाथाशतकमेतत् ॥]

रसिकोंके हृदयके अत्यंत प्रिय एवं कविवत्सल प्रमुख सुकविगणरचित सप्तशतीमें यह पञ्चम गाथाशतक समाप्त हुआ ॥ १०१ ॥

षष्ठशतक

सूईवेहे मुसलं विच्छुहमाणेण दड्ढलोएण ।
एक्कग्गामे वि पिओ समअं अच्छीहिँ वि ण दिट्ठो ॥ १ ॥

[सूचीवेधे मुसलं निक्षिपता दग्धलोकेन ।
एकग्रामेऽपि प्रियः समाक्ष्यामक्षिभ्यामपि न दृष्टः ॥]

दग्ध व्यक्ति सूचीवेधके सूक्ष्मस्थानपर मूसलनिक्षेप करते हैं। इस कारण, एक ही गाँवमें वर्त्तमान प्रियको मैं समान भावसे आँखभर देख भी नहीं पाती ॥ १ ॥

अज्जं वि ताव एक्कं मा मं वारेहि पिअसहि रुअन्ति ।
कल्लिं उण तम्मि गए जइ ण मुआ ता ण रोदिस्सं ॥ २ ॥

[अद्यापि तावदेकं मा मां वारय प्रियसखि रुदतीम् ।
कल्ये पुनस्तस्मिन्गते यदि न मृता तदा न रोदिष्यामि ॥]

हे प्रिय सखि, केवल आज एक दिनकेलिए तुम हमें रोनेसे मना मत करना। किन्तु, कल प्रियतमके चले जाने पर यदि प्राणान्त न हो जाय तो फिर नहीं रोऊँगी ॥ २ ॥

एहि त्ति वाहरन्तम्मि पिअअमे उअह ओणअमुहीए ।
विउणावेढ्ढिअजहणत्थलाइ लज्जोणअं हसिअं ॥ ३ ॥

[एहीति व्याहरति प्रियतमे पश्यतावनतमुख्या ।
द्विगुणावेष्टितजघनस्थलया लज्जावनतं हसितम् ॥]

सुमलोग देखो, 'आओ' कहकर प्रियतम द्वारा बुला लीजानेपर अवनतमुखी महिला होकर जङ्घोंको दोहरे वस्त्राञ्चल द्वारा ढँककर लज्जावनत हँसी ॥ ३ ॥

मारेसि कं ण मुद्धे इमेण पेरन्तरत्तविसमेण ।
भुलआचावविणिग्गअतिक्खअरद्धच्छिभल्लेण ॥ ४ ॥

[मारयसि कं न मुग्धे अनेन पर्यन्तरक्तविषमेण ।
भ्रूलताचापविनिर्गततीक्ष्णतरार्धाक्षिभल्लेन ॥]

हे मुग्धे, अपने रक्तिम, तीक्ष्ण एवं विषम भ्रूलताचापसे विनिर्गत तथा

तीक्ष्णतर अर्द्धनिमीलित इन नयनरूप बाणोंद्वारा तुम किसे नहीं मार सकती ॥ ४ ॥

तुह दंसणे सअह्णा सद्दं सोऊण णिग्गआ जाइं।
तइ घोलीणे ताइं पआइँ वोढव्विआ जाआ ॥ ५ ॥
[तव दर्शने सतृष्णा शब्दं श्रुत्वा निर्गता यानि ।
त्वयि व्यतिक्रान्ते तानि पदानि वोढव्या जाता ॥]

तुम्हारे दर्शनकी अभिलाषिणी होकर वह कण्ठध्वनि सुनकर घरसे जितने पग निकली थी, तुम्हारे चले जानेपर उसे उतनेही पग सकु होकर ले आना पड़ा था ॥ ५ ॥

ईसामच्छररहिएहिँ णिव्विआरेहिँ मामि अच्छीहिं।
एह्णिं जणो जणम्मिव णिरिच्छए कहँ ण छिज्जामो ॥ ६ ॥
[ईर्ष्यामत्सररहिताभ्यां निर्विकाराभ्यां मातुलान्यक्षिभ्याम् ।
इदानीं जनो जनमिव निरीक्षते कथं न क्षीयामहे ॥]

मामी, सम्बन्धहीन महिलाओंके प्रति साधारण पुरुषोंकी नाईं यह मेरे प्रति ईर्ष्या एवं मत्सर भावसे शून्य तथा निर्विकार नयनोंसे देख रहा है। मैं क्षीण क्यों नहीं होऊँगी ? ॥ ६ ॥

धाउव्वसिचअविहाविओरुदिट्ठेण दन्तमग्गेण।
वहुमाआ तोसिज्जइ णिहाणकलसस्स व मुहेण ॥ ७ ॥
[वातोद्धतसिचयविभाविनोरुदृष्टेन दन्तमार्गेण ।
वधूमाता तोष्यते निधानकलशस्येव मुखेन ॥]

भूमि खोदते समय स्थापन कलशका मुँह दिखायी पड़नेपर जैसी प्रसन्नता होती है, वैसी ही प्रसन्नता नये बहूकी माताको, वस्त्राञ्चलके हवासे उड़ जाने पर कन्याके उरु प्रदेशपर दन्तक्षत देखकर हुई ॥ ७ ॥

हिअअम्मि वससि ण करेसि मण्णुअं तह वि णेहभरिएहिं।
सङ्किज्जसि जुअइसुहावगलिअधीरेहिँ अम्हेहिं ॥ ८ ॥
[हृदये वससि न करोषि मन्युं तथापि स्नेहभृताभिः ।
शङ्क्यसे युवतिस्वभावगलितधैर्याभिरस्माभिः ॥]

तुम मेरे हृदय में वास कर रहे हो एवं मेरे प्रति क्रोध नहीं प्रकट करते अर्थात् मेरा दुःख नहीं बढ़ाते। फिर भी स्नेहपूर्ण एवं युवतीस्वभाववश धैर्य विगलित होनेके कारण मुझे आशङ्का हो रही है ॥ ८ ॥

अण्णं पि किं पि पाविहिसि मूढ मा तम्म दुक्खमेत्तेण ।
हिअअ पराहीणजणं मग्गन्त तुह केत्तिअं एअं ॥ ९ ॥
[अन्यदपि किमपि प्राप्स्यसि मूढ मा ताम्य दुःखमात्रेण ।
हृदय पराधीनजन मृगयमाण तव कियन्मात्रमिदम् ॥]

अरे मूढ हृदय, केवल विरहदुःखके कारण कष्टका अनुभव मत करना, अन्य कुछ भी अर्थात् मृत्यु भी पाओगे। पराधीन व्यक्तिकी प्रार्थनाके समान तुम्हारा यह विरहदुःख कितना है अर्थात् अल्पतम है ॥ ९ ॥

वेसोसि जीअ पंसुल अहिअअरं सा हु वल्लहा तुज्झ ।
इअ जाणिऊण वि मए ण ईसिअं दड्ढपेम्मस्स ॥ १० ॥
[द्वेष्योऽसि यस्याः पांसुल अधिकतरं सा खलु वल्लभा तव ।
इति ज्ञात्वापि मया न ईर्ष्यितं दग्धप्रेम्णः ॥]

अरे पापिष्ठ, तुम जिस कामिनी द्वारा उपेक्षित वा तिरस्कृत हो, उसी को अधिक प्रेम करते हो, यह जानकर भी मैं दग्धप्रेमके प्रति वा दग्धप्रेमके वश ईर्ष्यालु नहीं हुई ॥ १० ॥

सा आम सुहअ गुणरूअसोहिरी आम णिग्गुणा अ अहं ।
भण तीअ जो ण सरिसो किं सो सव्वो जणो मरउ ॥ ११ ॥
[सा सत्यं सुभग गुणरूपशोभनशीला सत्यं निर्गुणा चाहम् ।
भण तस्या यो न सदृशः किं स सर्वो जनो म्रियताम् ॥]

हे सुभग, वास्तवमें तुम्हारी वह प्रेयसी रूपगुणशालिनी है, एवं मैं गुणविहीना हूँ। बताओ तो, जितने व्यक्ति उसके सदृश नहीं हैं, वे क्या मर जायँ ॥ ११ ॥

सन्तमसन्तं दुक्खं सुहं व जाओ घरस्स आणन्ति ।
ता पुत्तअ महिलाओ सेसाओं जरा मनुस्साणं ॥ १२ ॥
[सदसद्दुःखं सुखं वा या गृहस्य जानन्ति ।
ताः पुत्रक महिलाः शेषा जरा मनुष्याणाम् ॥]

हे पुत्रक, जो वधुएँ घरके सभीके सदसत् सुख दुःख सभीको विचारकर चलना जानती हैं, केवल वे ही महिला पद-वाच्य हैं, अन्यान्य रमणियाँ केवल मानवीय जराके समान हैं अर्थात् कुल कलङ्किनी हैं ॥ १२ ॥

हसिएहिँ उवालम्भा अच्चुवआरेहिँ रूसिअव्वाइं ।
अंसूहिँ भण्डणाइं एसो मग्गो सुमहिलाणं ॥ १३ ॥

[हसितैरुपालम्भा अत्युपचारै रोदितव्यानि ।
अश्रुभिः कलहा एष मार्गः सुमहिलानाम् ॥]

हास्य द्वारा तिरस्कार, अत्यादर द्वारा खेद प्रकाश एवं अश्रुद्वारा कलह करना, अच्छी महिलाओंकी यही मान प्रकट करनेकी रीति है ॥१३॥

उल्लावो मा दिज्जउ लोअविरुद्ध त्ति णाम काऊण ।
संमुहापडिए को उण वेसे वि दिट्ठिं ण पाडेइ ॥ १४ ॥

[उल्लापो मा दीयतां लोकविरुद्ध इति नाम कृत्वा ।
समुखापतिते कः पुनर्द्वेष्येऽपि दृष्टिं न पातयति ॥]

लोकविरुद्ध कार्य समझकर लोकप्रकाश (लोकध्वनि) नहीं किया गया है। किन्तु किसी व्यक्तिके अप्रिय अथवा उपेक्षित होनेपर भी क्या उसके सामने आजानेपर उसपर दृष्टि न डाली जाय ? १४ ॥

साहीणपिअअमो दुग्गओ वि मण्णइ कअत्थमप्पाणं ।
पिअरहिओ उण पुहविं [illegible] पाविऊण दुग्गओ च्चेअ ॥ १५ ॥

[स्वाधीनप्रियतमो दुर्गतोऽपि मन्यते कृतार्थमात्मानम् ।
प्रियरहितः पुनः पृथिवीमपि प्राप्य दुर्गत एव ॥]

स्वयं दुर्गत होनेपर भी जिनकी प्रियतमा स्वाधीना हैं, वे अपनेको कृतार्थ समझते हैं। किन्तु जो व्यक्ति प्रियारहित हैं, वे पृथिवी प्राप्त होनेपर भी दुर्गत ही [illegible] जाते हैं ॥ १५ ॥

किं रुअसि किं अ सोअसि किं कुप्पसि सुअणु एक्कमेक्कस्स ।
पेम्मं विसं व विसमं साहसु को रुन्धिउं तरइ ॥ १६ ॥

[किं रोदिषि च शोचसि किं कुप्यसि सुतनु एकैकस्मै ।
प्रेम विषमिव विषमं कथय को रोद्धुं शक्नोति ॥]

अरी सुतनु, रोती क्यों हो, शोकचिन्ता भी क्यों करती हो, प्रत्येक व्यक्ति पर क्रोध क्यों प्रकट करती हो ? बताओ तो विषके समान विषम प्रेमको कौन अवरुद्ध कर सकता है ? १६ ॥

ते [illegible] जुआणा ता गामसंपआ तं च अम्ह तारुण्णं ।
अक्खाणअं व लोओ कहेइ अम्हे वि तं सुणिमो ॥ १७ ॥

[ते च युवानस्ता ग्रामसम्पदस्तच्चास्माकं तारुण्यम् ।
आख्यानकमिव लोकः कथयति वयमपि तच्छृणुमः ॥]

वे ही, वे युवक तब थे, वह ही, वह तब ग्राम सम्पत्ति थी और तब हम लोगोंका वही यह यौवन भी था। लोग आख्यानकी भाँति उन सबका वर्णन करेंगे और हम सब सुनेंगे ॥ १७ ॥

वाहोहभरिअगण्डाहराएँ भणिअं विलक्खहसिरीए।
अज्ज वि किं रुसिज्जइ सवहावत्थं गअं पेम्मं ॥ १८ ॥
[बाष्पौघभृतगण्डाधरया भणितं विलक्षहसनशीलया।
अद्यापि किं रुष्यते शपथावस्थां गतं प्रेम ॥]

बाष्पप्रवाहसे गण्डस्थल एवं अधरको भरकर लज्जाशीलासे हँसकर वह नायिका बोली, अब और रोष क्यों प्रकट कर रही हो? प्रेम शपथकी अवस्थाको पहुँचा है अर्थात् शपथ द्वारा प्रेमकी प्रतीति करनी है ॥ १८ ॥

घण्णअघअलिप्पमुहिं जो मं अइआअरेण चुम्बन्तो।
एण्हिं सो भूसणभूसिअं पि अलसाअइ छिवन्तो ॥ १९ ॥
[घर्मे घृतलिप्तमुखीं यो मामत्यादरेण चुम्बन्।
इदानीं स भूषणभूषितामप्यलसायते स्पृशन् ॥]

पुष्पवतीकी दशामें कर्णघृतद्वारालिप्तमुखी जिसने मुझे अत्यन्त आदरके साथ चूमा था, वही अब मेरे भूषणद्वारा अलङ्कृत होनेपर भी मुझे छूनेमें सङ्कोच का बोध कर रहा है ॥ १९ ॥

णीलपडपाउअङ्गी त्ति मा हु णं परिहरिज्जासु।
पट्टंसुअं पि णइं रअम्मि अवणिज्जइ चेअ ॥ २० ॥
[नीलपटप्रावृताङ्गीति मा खल्वेनां परिहर।
पट्टांशुकमपि नद रतेऽपनीयत एव ॥]

नीले वस्त्रद्वारा आवृत अङ्गवाली समझकर उसे कभी त्याग न देना। पहने हुए पट्टवस्त्र भी रमणके समय खींच लिये जाते हैं ॥ २० ॥

सच्चं कलहे कलहे सुरआरम्भा पुणो णवा होन्ति।
माणो उण माणंसिणि गरुओ पेम्मं विणासेइ ॥ २१ ॥
[सत्यं कलहे-कलहे सुरतारम्भा पुनर्नवा भवन्ति।
मानः पुनर्मनस्विनि गुरुकः प्रेम विनाशयति ॥]

प्रत्येक कलहके उपरान्त आरम्भ किया हुआ रमण पुनः नवीन होता है, यह सच है। किन्तु हे मनस्विनि, भारी होनेपर मान प्रेमका विनाश कर देता है ॥ २१ ॥

माणुम्मत्ताइ मए अकारणं कारणं कुणन्तीए।
अद्दंसणेण पेम्मं विणासिअं पोढवाएण ॥ २२ ॥
[मानोन्मत्तया मया अकारणं कारणं कुर्वत्या।
अदर्शनेन प्रेम विनाशितं प्रौढवादेन ॥]

मानमें उन्मत्त हो, मान करनेका जो कारण नहीं है उसे कारण समझकर दर्शन तक छिपे बिना मैंने प्रतिज्ञापूर्वक अस्वीकृति द्वारा प्रेमको विनष्टकर डाला है ॥ २२ ॥

अणुऊलं विअ घोत्तुं बहुवल्लह वल्लहे वि वेसे वि।
कुविअं अ पसाएउं सिक्खइ लोओ तुमाहिन्तो ॥ २३ ॥
[अनुकूलमेव वक्तुं बहुवल्लभवल्लभेऽपि द्वेष्येऽपि।
कुपितं च प्रसादयितुं शिक्षते लोको युष्मत्तः ॥]

हे बहुवल्लभ, प्रिय रहो या अप्रिय, लोग तुमसे यह सीख सकते हैं कि किससे किस प्रकार अनुकूल वचनका प्रयोग करना चाहिए एवं कुपित व्यक्तिको किस प्रकार प्रसन्न करना चाहिए ॥ २३ ॥

लज्जा चत्ता सीलं अ खण्डिअं अजसघोसणा दिण्णा।
जस्स कएणं पिअसहि सो च्चेअ जणो जणो जाओ ॥ २४ ॥
[लज्जा त्यक्ता शीलं च खण्डितमयशोघोषणा दत्ता।
यस्य कृतेन (कृतेमनु) प्रिय सखि स एव जनो जनो जातः ॥]

हे प्रिय सखि, जिसके लिए मैंने वस्तुतः लज्जा छोड़ दी है, चरित्रको भङ्ग कर दिया है एवं अपयश मोल ले रखा है वह (प्रिय) व्यक्ति ही अब (उदासीन) व्यक्ति बन गया है ॥ २४ ॥

हसिअं अदिट्ठदन्तं भमिअमणिक्कन्तदेहलीदेसं।
दिट्ठमणुक्खित्तमुहं एसो मग्गो कुलवहूणं ॥ २५ ॥
[हसितमदृष्टदन्तं भ्रमितमनिष्क्रान्तदेहलीदेशम्।
दृष्टमनुत्क्षिप्तमुखमेष मार्गः कुलवधूनाम् ॥]

कुलवधुओंकी यही रीति है, बिना दाँत दिखाये हँसना चाहिए, देहलीके आगे बढ़े बिना घूमना चाहिए एवं मुँह ऊपर उठाये बिना देखना चाहिए ॥

धूलिमइलो वि पङ्कङ्किओ वि तणरइअदेहभरणो वि।
तह वि गइन्दो गरुअत्तणेण ढक्कं समुव्वहइ ॥ २६ ॥

[धूलिमलिनोऽपि पङ्काङ्कितोऽपि तृणरचितदेहभरणोऽपि ।
तथापि गजेन्द्रो गुरुकत्वेन ढक्कां समुद्वहति ॥]

धूलिमलिन होनेपर भी, पङ्काङ्कित होनेपर भी, तृण द्वारा देहपोषणकारी होनेपर भी गजेन्द्र अपने गुरुत्ववश (भारीपनके कारण) ढोल वहन करता है ॥

कस्मरि कीस ण गम्मइ को गव्वो जेण मसिणगमणासि ।
अहिसूरन्तहसिरीअ भणिअं चोर जाणिहिसि ॥ २७ ॥
[बन्दि किमिति न गम्यते को गर्वो येन मसृणगमनासि ।
अरहदन्तहसनशीलया भणितं चोर ज्ञास्यसि ॥]

हे बन्दी, मेरे साथ चलती क्यों नहीं ? तुम्हें क्या यह गर्व है कि इतनी मन्दगमना हो गयी हूँ ? दाँत बिना दिखाये हँसकर रमणी बोल उठी, 'हे चोर, (क्यों ऐसा कहती हूँ) जान जाओगे" ॥ २७ ॥

थोरंसुएहिँ रुण्णं सवत्तिवग्गेण पुप्फवइआए ।
भुअसिहरं पइणो पेच्छिऊण सिरलग्गतुप्पलिअं ॥ २८ ॥
[स्थूलाश्रुभी रुदितं सपत्नीवर्गेण पुष्पवत्या ।
भुजशिखरं पत्युः प्रेक्ष्य शिरोलग्नवर्णघृतलिप्तम् ॥]

पुष्पवतीके सिरोवसनविलेपन घृतद्वारा पतिके भुजशिखरको लिप्त देखकर सपत्नियाँ अविरल अश्रुधार बहाकर रोने लगीं ॥ २८ ॥

लोओ जूरइ जूरउ वअणिज्जं होउ होउ तं णाम ।
एहि णिमज्जसु पासे पुप्फवइ ण एइ मे णिद्दा ॥ २९ ॥
[लोकः खिद्यते खिद्यतु वचनीयं भवति भवतु तन्नाम ।
एहि निमज्ज पार्श्वे पुष्पवति नैति मे निद्रा ॥]

लोग दुखी होते हैं तो हों, निन्दा होती है तो वह भी हो। हे पुष्पवती, आओ, मेरे पास आजाओ, मुझे निंदा नहीं आ रही है ॥ २९ ॥

जं जं पुलएमि दिसं पुरओ लिहिअ व्व दीससे तत्तो ।
तुह पडिमापडिवाडिं वहइ व्व सअल दिसाअक्कं ॥ ३० ॥
[यां यां प्रलोकयामि दिशं पुरतो लिखित एव दृश्यसे तत्र ।
तव प्रतिमापरिपाटीं वहतीव सकलं दिशाचक्रम्]

मैं जिधर जिधर देखती हूँ, मानो उधर ही उधर तुम्हें चित्रित देखती हूँ । सारे दिक्‌चक्र मानो जैसे तुम्हारी प्रतिमाको परस्पर वहन कर रहे हैं ॥ ३० ॥

ओसरइ धुणइ साहं खोक्खामुहलो पुणो समुल्लिहइ।
जम्बूफलं ण गेह्णइ भमरो त्ति कई पढमडक्को॥ ३१॥

[अपसरति धुनोति शाखां खोक्खामुखर पुन समुल्लिखति।
जम्बूफल न गृह्णाति भ्रमर इति कपि प्रथमदष्ट ॥]

भौंरे द्वारा पहले काट लिये जानेपर वानर बडी ओरसे खो खोकर (जम्बुवृक्षपे) [illegible] रहा है, डालको हिला रहा है एव पुन नखद्वारा इसपर खुरच रहा है। किन्तु इसमें भौंरा है, यह समझकर जामुनके फलको नहीं ले रहा है ॥ ३१ ॥

ण छिवइ हत्थेण कई कण्डूइभएण पत्तलणिउञ्जे।
दरलॅम्बिअगोच्छकइकच्छुसच्छहं वाणरीहत्थ॥ ३२॥

[न स्पृशति हस्तेन कपि कण्डूतिभयेन पत्रलनिकुञ्जे।
ईषल्लम्बितगुच्छकपिकच्छुसदृश वानरीहस्तम् ॥]

पत्रबहुल निकुञ्जमें वानर लम्बमान कपिकच्छु नामक गुच्छे की भाँति दिखायी पड़ता है। इस कारण खुजलीके समय इच्छुक होनेपर भी वानराके हाथको अपने हाथसे छूता नहीं ॥ ३२ ॥

सरसा वि सूसइ च्चिअ जाणइ दुक्खाइँ मुद्धहिअआ वि।
रत्ता वि पण्डुर च्चिअ जाआ वरई तुह वि विओए॥ ३३॥

[सरसापि शुष्यत्येव जानाति दु खानि मुग्धहृदयापि।
रक्तापि पाण्डुरैव जाता वराकी तव वियोगे ॥]

तुम्हारे वियोगमें वह बराकी रसयुक्त होकर भी सूखती जा रही है, भोला भाला हृदयवाली होकर भी दुखका अनुभव कर रही, एव रक्ता (अनुरक्ता) होकर भी पाण्डुवर्णा होती जा रही है ॥ ३३ ॥

आरुहइ जुण्णअं खुज्जअं वि जं उअह वल्लरी तउसी।
णीलुप्पलपरिमलवासिअस्स सरअस्स सो दोसो॥ ३४॥

[आरोहति जीर्णं कुब्जकमपि य पश्यत वेल्लनशीला त्रपुसी।
नीलोत्पलपरिमलवासिताया शरद स दोष ॥]

देव, वल्लरी जो जीर्ण है एव कुब्ज वा वक्रवृक्षपर जो आरोहण करती है, वह नीलकमलके परिमलसे वासित शरत्काल (इक्षुमद) का दोष है ॥ ३४ ॥

उप्पहपहाविअजणो पविजिम्भिअकलअलो पहअतूरो ।
अज्जो सो च्चेअ छणो तेण विणा गामडाहो व्व ॥ ३५ ॥
[उत्पथप्रधावितजनः प्रविजृम्भितकलकलः प्रहततूर्यः ।
 दुःखं स एव क्षणस्तेन विना ग्रामदाह इव ॥]

हाय, जिस उत्सवमें लोग ऊपरकी ओर भागते हैं, गीतादिद्वारा कलकल रव उठता है एवं तूर्यनिदान उठाया जाता है—वही मधूत्सव उस प्रियतमके विरहमें ग्रामदाहकी भाँति प्रतीत हो रहा है ॥ ३५ ॥

उल्लावन्तेण ण होइ कस्स पासट्ठिएण ठड्ढेण ।
सङ्का मसाणपाअवलम्बिअचोरेण व खलेण ॥ ३६ ॥
[उल्लापयमानेन न भवति कस्य पार्श्वस्थितेन स्तब्धेन ।
 शङ्का श्मशानपादपलम्बितचोरेणेव खलेन ॥]

श्मशानवृक्ष पर गलेमें फाँसी डालकर लटकती हुई, स्तब्धमान, रक्तक्ष एवं पराभवकारी चोरकी भाँति (प्रवञ्चनार्थं) बोलते हुए पार्श्वस्थित तथा गर्वसे स्तब्ध खल व्यक्ति किसमें शङ्का नहीं उत्पन्न करते ॥ ३६ ॥

असमत्तगुरुअकज्जे एह्णिं पहिए घरं णिअत्तन्ते ।
णवपाउसो पिउच्छा हसइ व कुडअट्टहासेहिं ॥ ३७ ॥
[असमाप्तगुरुककार्ये इदानीं पथिके गृहं प्रतिनिवर्तमाने ।
 नवप्रावृड् पितृष्वसः हसतीव कुटजाट्टहासैः ॥]

अरी बुआ, सम्प्रति अत्यावश्यक कार्यको असमाप्त रहने दे। पथिकके घर लौट आने पर, नयी वर्षासे गिरिमल्लिकाके खिलनेके समान अट्टहास-सी हँसी हँस रही है ॥ ३७ ॥

दट्ठूण उण्णमन्ते मेहे आमुक्कजीविआसाए ।
पहिअघरिणीअ डिम्भो ओरुण्णमुहीअ सच्चविओ ॥ ३८ ॥
[दृष्ट्वा उन्नमतो मेघानामुक्तजीविताशया ।
 पथिकगृहिण्या डिम्भोऽवरुदितमुख्या दृष्टः ॥]

आकाशमें बादलोंको उठते हुए देखकर, जीवनकी आशाका सम्यक् त्यागकर, पथिकपत्नी ने रुआँसे मुँहसे अपने शिशुको गतिको स्वाभाविक रीतिसे स्थिर किया ॥ ३८ ॥

अविहअकरपक्ष्चलअं ठाणं पेन्तो पुणो पुणो गलिअं ।
सद्दिसत्थो च्चिअ माणंसिणीअ वलआरओ जाओ ॥ ३९ ॥

[अविधवालक्षणवलयं स्थानं मयम्पुनः पुनर्गलितम् ।
सखीसार्थं एव मनस्विन्या वलयकारको जातः ॥]

मनस्विनीके अवैधव्यके लक्षणरूप वलयके गिर जानेपर, सखियाँ ही इसे बार-बार पहनाती हैं। अतः वे ही उसके वलय पहिनानेवाली (चूड़िहारिन) हो गई हैं ॥ ३९ ॥

पहिअवहू विवरन्तरगलिअजलोल्ले घरे अणोल्लं पि ।
उद्देसं अविरअबाहसलिलणिवहेण उल्लेइ ॥ ४० ॥
[पथिकवधूर्विवरान्तरगलितजलार्द्रे गृहेऽनार्द्रमपि ।
उद्देशमविरतबाष्पसलिलनिवहेनार्द्रयति ॥]

विवरों द्वारा गिरते हुए वर्षा जलकी धारासे आर्द्र गृहके जो-जो कोने अनार्द्र रह गए हैं, उन-उन स्थानोंको भी पथिककी वधू अविरल गिरनेवाली नेत्र जलकी धारासे आर्द्र कर रही है ॥ ४० ॥

जीहाइ कुणन्ति पिअं भवन्ति हिअअम्मि णिव्वुइं काउं ।
पीडिज्जन्ता वि रसं जणन्ति उच्छू कुलीणा अ ॥ ४१ ॥
[जिह्वायां (पक्षे-जिह्वया) कुर्वन्ति प्रियं भवन्ति हृदये निर्वृतिं कर्तुम् ।
पीड्यमाना अपि रसं जनयन्तीक्षवः कुलीनाश्च ॥]

गन्ना जिस प्रकार जिह्वाका स्वाद उत्पन्न करता है, हृदयमें ताप निवृत्त कर शान्तिका विधान करता है एवं निष्पीडित होनेपर भी रस उत्पन्न करता है, उसी प्रकार कुलीन व्यक्ति भी जिह्वा अर्थात् अनुकूल वचन द्वारा प्रियता उत्पन्न करते हैं। हृदयमें शान्ति प्रदान करते हैं एवं प्रपीडित होकर भी प्रीति उत्पन्न करते हैं ॥ ४१ ॥

दीसइ ण चूअमउलं अत्ता ण अ वाइ मलअगन्धवहो ।
पत्तं वसन्तमासं साहइ उक्कण्ठिअं चेअं ॥ ४२ ॥
[दृश्यते न चूतमुकुलं श्वश्रु न च वाति मलयगन्धवहः ।
प्राप्तं वसन्तमासं कथयत्युत्कण्ठितं चेतः ॥]

हे सास, आम्रमञ्जरी नहीं दिखायी पड़ती। मलयपवन भी नहीं बह रहा है, उत्कंठित चित्त ही वसन्तागमनकी सूचना दे रहा है ॥ ४२ ॥

मज्झयणे भमरउलं ण विणा कज्जेण ऊसुअं भमइ ।
कत्तो जलणेण विणा धूमस्स सिहाउ दीसन्ति ॥ ४३ ॥

[आम्रवने भ्रमरकुलं न विना कार्येणोत्सुकं भ्रमति ।
कुतो ज्वलनेन विना धूमस्य शिखा दृश्यन्ते ॥]

अमराईमें अनायास ही उत्सुक हो भौंरे घूम नहीं रहे हैं अर्थात् मधुपान के लोभमें घूम रहे हैं। अग्निके अतिरिक्त धुएँकी शिखा कहाँ दिखायी पड़ती है? ॥ ४३ ॥

दइअकरग्गहलुलिओ धम्मिल्लो सीहुगन्धिअं वअणं ।
मअणम्मि एत्तिअं चिअ पसाहणं हरइ तरुणीणं ॥ ४४ ॥
[दयितकरग्रहलुलितो धम्मिल्लः सीधुगन्धितं वदनम् ।
मदने एतावदेव प्रसाधनं हरति तरुणीनाम् ॥]

प्रियतमके करग्रहणके कारण शिथिलबद्ध केशबन्ध (जूड़ा) एवं मदिराके गंधसे आमोदित वदन—इतना शृंगार ही तरुणियोंके मदनोत्सवमें चित्तहारी होता है ॥ ४४ ॥

गामतरुणीओ हिअअं हरन्ति छेआणँ थणहरिल्लीओ ।
मअणे कुसुम्भरत्तिअकञ्चुआहरणमेत्ताओ ॥ ४५ ॥
[ग्रामतरुण्यो हृदयं हरन्ति विदग्धानां स्तनभारवत्यः ।
मदने कुसुम्भरागयुतकञ्चुकाभरणमात्राः ॥]

मदनोत्सवमें कुसुम्भरंजित कञ्चुकि मात्र आभरणरूपमें पहनकर, स्तन भारवती ग्रामतरुणियाँ विदग्ध जनोंके हृदयको हर रही हैं ॥ ४५ ॥

आलोअन्त दिसाओ ससन्त जम्भन्त गन्त रोअन्त ।
मुच्छन्त पडन्त खलन्त पहिअ किं ते पउत्थेण ॥ ४६ ॥
[आलोकयन्दिशः श्वसञ्जृम्भमाणो गायन्रुदन् ।
मूर्छन्पतन्स्खलन्पथिक किं ते प्रवसितेन ॥]

अरे पथिक, दिशाओंकी ओर देखकर ही तुम्हारे श्वास, जँभाई, गान वा गमन, रोदन, मूर्च्छा, पतन एवं स्खलन हो रहे हैं—तुम्हारे प्रवासगमन से क्या प्रयोजन? ॥ ४६ ॥

दट्ठूण तरुणसुरअं विविहविलासेहिँ करणसोहिल्लं ।
दीओ वि तग्गअमणो गअं पि तेल्लं ण लक्खेइ ॥ ४७ ॥
[दृष्ट्वा तरुणसुरतं विविधविलासैः करणशोभितम् ।
दीपोऽपि तद्गतमना गतमपि तैलं न लक्षयति ॥]

विविधविलासपूर्ण एवं कामशास्त्रोक्त बन्धनकरणादिद्वारा शोभित तरुण-तरुणीका सुरत देखकर उसमें लिप्त चित्तने भी नहीं देखा कि तेल निःशेष हो गया है ॥ ४७ ॥

पुणरुत्तकरप्फालणउद्धमतडुल्लिहणपट्टणसआइं ।
जूहाहिवस्स माए पुणो वि जइ णम्मआ सहइ ॥ ४८ ॥
[पुनरुक्तकरास्फालनोन्मथतटोल्लिखनपीडनशतानि ।
यूथाधिपस्य मातः पुनरपि यदि नर्मदा सहते ॥]

हे माता, न जाने, नर्मदा (नदी, नर्मदा सुन्दरी) नायिका यूथपति (गजपति, टोलीनायक) के बारबार करके (शुण्ड, हाथ) शत शत ताड़न (कटाव), उभय तट (कूप, किनारे) शत शत उत्खनन एवं शत शत पीड़न सहन कर सकेगी या नहीं ॥ ४८ ॥

घोडसुणओ विअण्णो, अत्ता मत्ता, पई वि अण्णत्थो ।
फलिहं व मोडिअं महिसएण, को तस्स साहेउ ॥ ४९ ॥
[दुष्टशुनको विपन्नः श्वश्रूर्मत्ता पतिरप्यन्यत्र ।
कार्पास्यपि भग्ना महिषकेण कस्तस्य कथयतु ॥]

गृहरक्षक दुष्ट कुत्ता मर गया है, सास उन्मादरोगसे ग्रस्त हैं, पति परदेश गया हुआ है—बैलने जो कार्पासका खेत नष्ट कर दिया है, कोई नहीं है जो उसे बता दे ॥ ४९ ॥

सकअग्गहरहसुत्ताणिआणणा पिअइ पिअमुहविइण्णं ।
थोअं थोअं रोसोसहं व उअ माणिणी मइरं ॥ ५० ॥
[सकचग्रहरभसोत्तानितानना पिबति प्रियमुखवितीर्णाम् ।
स्तोकं स्तोकं रोषौषधमिव पश्य मानिनी मदिराम् ॥]

देखो, प्रियतम द्वारा बाल पकड़ कर बलपूर्वक ऊपर उठाये गए मुँहवाली मानिनी प्रियतमके मुख द्वारा दी हुई मदिराको रोषनिवारक औषधिके रूपमें धीरे धीरे पी रही है ॥ ५० ॥

गिरिसोत्तो त्ति भुअंगं महिसो जीहाइ लिहइ संतत्तो ।
महिसस्स कण्हपत्थरझरो त्ति सप्पो पिअइ लालं ॥ ५१ ॥
[गिरिस्रोत इति भुजगं महिषो जिह्वया लेढि संतप्तः ।
महिषस्य कृष्णप्रस्तरझर इति सर्पः पिबति लालाम् ॥]

ग्रीष्म सन्तापसे सन्तप्त बैठ गिरिका स्रोत समझकर सर्पको जिह्वासे चाट रहा है, एवं सर्प भी काले पत्थरका छाता समझकर उसका ज्वार पी रहा है ॥

पञ्जरसारिं अत्ता ण णेसि किं एत्थ रइहराहिन्तो ।
वीसम्भजम्पिआइं एसा लोआणँ पअडेइ ॥ ५२ ॥
[पञ्जरशारीं मातुलानि न नयसि किमत्र रतिगृहात् ।
विस्रम्भजल्पितान्येषा लोकानां प्रकटयति ॥]

अरी सास, इस पञ्जरबद्ध सारिकाको रतिगृहसे अन्यत्र हटा क्यों नहीं देती ? यह औरों के सम्मुख गोपनीय वचनोंको प्रकट कर देती है ॥ ५२ ॥

एद्दहमेत्ते गामे ण पडइ भिक्खं त्ति कीस मं भणसि ।
धम्मिअ करञ्जभञ्जअ जं जीअसि तं पि दे बहुअं ॥ ५३ ॥
[एतावन्मात्रे ग्रामे न पतति भिक्षेति न किमिति मां भणसि ।
धार्मिक करञ्जभञ्जक यज्जीवसि तदपि ते बहुकम् ॥]

हे करञ्ज-शाखाभङ्गकारी धर्मात्मा, इतने बड़े ग्राममें मुझसे ही क्यों कह रहे हो कि 'भिक्षा नहीं मिलती' ? करञ्जशाखा-भङ्ग होनेके बाद जो जीवित हैं—यही तुम्हारे लिए बहुत है ॥ ५३ ॥

जन्तिअ गुलं विमग्गसि ण अ मे इच्छाइ वाहसे जन्तं ।
अणरसिअ किं ण आणसि ण रसेण विणा गुलो होइ ॥ ५४ ॥
[यान्त्रिक गुडं विमार्गयसे न च ममेच्छया वाहयसि यन्त्रम् ।
अरसिक किं न जानासि न रसेन विना गुडो भवति ॥]

अरे यन्त्रचालक, (वेतनके बदले) गुड़ चाहते हो ? ऊपरसे हमारे इच्छानुसार यन्त्र नहीं चला सकते । अरे अरसिक, क्यों, नहीं जानते कि रसके बिना गुड़ पैदा नहीं होता ॥ ५४ ॥

पत्तणिअम्बप्फंसा ण्हाणुत्तिण्णाएँ सामलङ्गीए ।
जलबिन्दुएहिँ चिहुरा रुअन्ति बन्धस्स व भएण ॥ ५५ ॥
[प्राप्तनितम्बस्पर्शाः स्नानोत्तीर्णायाः श्यामलाङ्ग्याः ।
जलबिन्दुकैश्चिकुरा रुदन्ति बन्धस्येव भयेन ॥]

स्नानोत्तीर्णा श्यामलाङ्गीके कुन्तल केशसमूह नितम्बके स्पर्शसुखको पाकर जैसे बन्धनके भयसे स्नान जलबिन्दुओंके बहाने रो रहे हैं ॥ ५५ ॥

गामरुणणिअडिअकडवस्स घड तुज्झ दूरमणुलग्गो ।
तित्तिल्लपडिप्फलकमोइओ वि गामो ण उव्विग्गो ॥ ५६ ॥

[ग्रामाङ्गणनिगडितकृष्णपक्ष वट तव दूरमनुरक्तः ।
दौः सन्धिकप्रतीक्षकभोगिकेऽपि ग्रामो नोद्विग्नः ॥]

हे वटवृक्ष, तुमने गाँवके आँगनमें कृष्णपक्षका अन्धकार बाँध रखा है। तुमसे दूर रहकर गाँवका रहनेवाला उद्विग्न नहीं होता, यद्यपि भोगासक्त कामियोंकी द्वारपाल प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ ५६ ॥

सुप्पं डड्ढं चणआ ण भज्जिआ सो जुआ अइक्कन्तो ।
अत्ता वि घरे कुविआ भूआणँ व वाइओ वंसो ॥ ५७ ॥

[शूर्पं दग्धं चणका न भृष्टाः स युवातिक्रान्तः ।
श्वश्रूरपि गृहे कुपिता भूतानामिव वादितो वंशः ॥]

सूप भी जल गया, चना भी भुना नहीं, वह युवक भी चला गया, सास भी घरमें कुपित हो गई। किन्तु श्रुतिविकल भूतके सामने जैसे बाँसुरी बजाई गई अर्थात् उसकी सारी चेष्टाएँ व्यर्थ हुईं ॥ ५७ ॥

पिसुणन्ति कामिणीणं जललुक्कपिआवऊहणसुहेल्लिं ।
कण्डइअकवोलुप्फुल्लणिच्चलच्छीइँ वअणाइं ॥ ५८ ॥

[पिशुनयन्ति कामिनीनां जलनिलीनप्रियावगूहनसुखकेलिम् ।
कण्टकितकपोलोत्फुल्लनिश्चलाक्षीणि वदनानि ॥]

कामिनियोंका कण्टकित कपोलविशिष्ट एवं उत्फुल्ल निश्चल नेत्रसमन्वित वदनसमूह, जलमें विलीन प्रियतमोंके आलिङ्गनसे उत्पन्न सुखकी क्रीडा सूचित कर रहे हैं ॥ ५८ ॥

अहिणवपाउसरसिएसु सोहइ साआइएसु दिअहेसु ।
रहसपसारिअगीवाणँ णच्चिअं मोरवुन्दाणं ॥ ५९ ॥
[अभिनवप्रावृड्रसितेषु शोभते श्यामायितेषु दिवसेषु ।
रभसप्रसारितग्रीवाणां नृत्यं मयूरवृन्दानाम् ॥]

वर्षाके नये बादलोंके गर्जनसे समन्वित श्यामायमान दिवसोंमें आनन्दवश उच्छ्वसितग्रीव मयूरोंका नृत्य शोभा पा रहा है। (दिनमें ही सङ्केतस्थान अभिसारयोग्य हो गया है।) ॥ ५९ ॥

महिसक्खन्धविलग्गं घोलइ सिङ्गाहअं सिमिसिमन्तं ।
आहअवीणाझंकारसद्दमुहलं मसअवुन्दं ॥ ६० ॥

कष्ट दिया है—बहुत दूरपर्यन्त गुरुकोपविशिष्ट उदासीन वचन द्वारा ॥ ६४ ॥

गन्धं अग्घाअन्तअ पक्कफलम्बाणँ वाहभरिअच्छ ।
आससु पहिअजुआणअ घरिणिमुहं मा ण पेच्छिहिसि ॥६५॥

[गन्धमाजिघ्रन्पक्वकदम्बानां बाष्पभृताक्ष ।
आश्वसिहि पथिकयुवन् गृहिणीमुखं मा न प्रेक्षिष्यसे ॥]

हे युवा-पथिक, पके हुए कदम्बकी सुगन्ध सूँघकर तुम्हारे नेत्र बाष्पपूर्ण हो गए हैं। तुम आश्वस्त होओ, गृहिणीका मुँह शीघ्र नहीं दिखेगा, ऐसा नहीं है ॥ ६५ ॥

गज्ज महं चिअ उवरिं सव्वत्थामेण लोहहिअअस्स ।
जलहर लम्बालइअं मा रे मारेहिसि वराइं ॥ ६६ ॥

[गर्ज ममैवोपरि सर्वस्थाम्ना लोहहृदयस्य ।
जलधर लम्बालकिकां मा रे मारयिष्यसि वराकीम् ॥]

हे जलधर, अपनी सारी शक्ति बटोरकर तुम मेरे लोहे जैसे कठोर हृदय पर गरजो। किन्तु अरे मेघ, लम्बकेश-शोभिनी उस बेचारी कामिनीको मत मारना ॥ ६६ ॥

पङ्कमइलेण छीरेक्कपाइणा दिण्णजाणुवडणेण ।
आनन्दिज्जइ हलिओ पुत्तेण व सालिछेत्तेण ॥ ६७ ॥

[पङ्कमलिनेन क्षीरैकपायिना दत्तजानुपतनेन ।
आनन्द्यतेहालिकः पुत्रेणेव शालिक्षेत्रेण ॥]

पङ्कमलिन, केवल दुग्धपानकारी एवं घुटनों द्वारा चलनेवाले पुत्रकी भाँति पङ्कमलिन, केवल जलपायी एवं जानुपर्यन्त (धान्य) मृणालग्रन्थि धारणशील शालि (धान्य) क्षेत्रद्वारा हालिक आनन्दोपभोग कर रहा है ॥ ६७ ॥

कहँ मे परिणइआले खलसङ्गो होहिइ त्ति चिन्तन्तो ।
ओणअमुहो ससूओ रुवइ व साली तुसारेण ॥ ६७ ॥

[कथं मे परिणतिकाले खलसङ्गो भविष्यतीति चिन्तयन् ।
अवनतमुखः सशूको रोदितीव शालिस्तुषारेण ॥]

मेरे परिणति-कालमें अर्थात् पकावस्थामें खलिहान - एवं दुष्ट जन खलका संग कैसे होगा—यह चिन्ताकर मुख नीचेकर शूक सहित (धान्य करक एवं शोक) शालिधान्य तुषारके बहाने जैसे रो रहा है ॥ ६८ ॥

संझाराओत्थइओ दीसइ गअणम्मि पडिवआचन्दो ।
रत्तदुऊलन्तरिओ थणणहलेहो व्व णववहुए ॥ ६९ ॥
[संध्यारागावस्थगितो दृश्यते गगने प्रतिपच्चन्द्रः ।
रक्तदुकूलान्तरितः स्तननखलेख इव नववध्वाः ॥]

रक्तवर्ण वस्त्रद्वारा आवृत नववधूके स्तनके ऊपरके नखचिह्नकी नाईं प्रतिपदाका चन्द्र आकाशमें संध्यारागसे अस्तहित दिखायी पड़ रहा है ॥ ६९ ॥

अइ दिअर किं ण पेच्छसि आआसं किं मुहा पलोएसि ।
जाआइ बाहुमूलम्मि अद्धअन्दाणँ परिवाडिं ॥ ७० ॥
[अयि देवर किं न प्रेक्षसे आकाशं किं मुधा प्रलोकयसि ।
जायाया बाहुमूलेऽर्धचन्द्राणां परिपाटीम् ॥]

हे देवर, आकाशकी ओर व्यर्थ ही दृष्टिपात क्यों कर रहे हो? जायाके बाहुमूल प्रदेशमें (नखक्षतोत्पादित) अर्धचन्द्रोंको क्यों नहीं देखते ? ७० ॥

वाआइ किं भणिज्जउ केत्तिअमेत्तं व लिक्खए लेहे ।
तुह विरहे जं दुक्खं तस्स तुमं चेअ गहिअत्थो ॥ ७१ ॥
[वाचया किं भण्यतां कियन्मात्रं वा लिख्यते लेखे ।
तव विरहे यद्दुःखं तस्य त्वमेव गृहीतार्थः ॥]

वाक्य द्वारा और क्या कहा जाय ? पत्रमें भी कितना लिखा जाय ? तुम्हारे विरहमें कितना दुःख है, यह तुम भली प्रकार समझ पा रहे हो ॥ ७१ ॥

मअणग्गिणो व्व धूमं मोहणपिञ्छिं व लोअदिट्ठीए ।
जोव्वणधअं व मुद्धा वहइ सुअन्धं चिउरभारं ॥ ७२ ॥
[मदनाग्नेरिव धूमं मोहनपिच्छिकामिव लोकदृष्टेः ।
यौवनध्वजमिव मुग्धा वहति सुगन्धं चिकुरभारम् ॥]

मुग्धा तरुणी मदनाग्निके धूएँ की भाँति, लोगोंके नयनोंको मुग्ध करनेकी ऐन्द्रजालिक पिच्छिकाकी भाँति यौवनकी ध्वजाकी भाँति, सुगन्धित केशोंका भार वहन कर रही है ॥ ७२ ॥

रूअं सिट्ठं चिअ से असेसपुरिसे णिअत्तिअच्छेण ।
वाहोल्लेण इमीए अजम्पमाणेण वि मुहेण ॥ ७३ ॥
[रूपं शिष्टमेव तस्याशेषपुरुषे निवर्तिताक्षेण ।
बाष्पार्द्रेणास्या अजल्पतापि मुखेन ॥]

अन्य सभी पुरुषोंसे लौटा हुआ नेत्र, उसके रूपस्मृति बाष्पार्द्र एवं कुछ भी न वर्णन करनेवाला उस नायिकाका मुखड़ा ही उस (नायक) के रूपको बता देता है ॥ ७३ ॥

वन्दारविन्दमन्दिरमअरन्दाणन्दिआलिरिञ्छोली ।
झणझणइ कसणमणिमेहल व्व महुमाससच्छीए ॥ ७४ ॥
[वृन्दारविन्दमन्दिरमकरन्दानन्दितालिपङ्क्ति ।
झणझणायते कृष्णमणिमेखलेव मधुमासलक्ष्म्या ॥]

बड़े-बड़े पद्मरूपमन्दिरमें मधुपानसे आनन्दित भ्रमरकुल, मधुमासलक्ष्मीकी कृष्णमणिरचित मेखला (करधनी) की नाईं झनझना रहे हैं ॥ ७४ ॥

कस्स करो बहुपुण्णप्फलेक्कतरुणो तुहं विसम्मिहइ ।
थणपरिणाहे मम्महणिहाणकलसे व्व पारोहो ॥ ७५ ॥
[कस्य करो बहुपुण्यफलैकतरोस्तव विश्रमिष्यति ।
स्तनपरिणाहे मन्मथनिधानकलश इव प्ररोहः ॥]

बहुतसे पुण्यफलोंके एकमात्र वृक्षकी भाँति किस सुकृती पुरुषका हाथ, कामदेवके स्थापनकलशसरीखे तुम्हारे विशालस्तनद्वयके ऊपर नवपल्लवकी भाँति स्थान प्राप्त करेगा ? ॥ ७५ ॥

चोरा सभअसतह्णं पुणो पुणो पेसअन्ति दिट्ठीओ ।
अहिरक्खिअणिहिकलसे व्व पोढवइआथणुच्छङ्गे ॥ ७६ ॥
[चोराः सभयसतृष्णं पुनः पुनः प्रेषयन्ति दृष्टीः ।
अहिरक्षितनिधिकलश इव प्रोढपतिकास्तनोत्सङ्गे ॥]

सर्परक्षित स्थापन कलशकी भाँति, प्रौढपतिका कामिनीके स्तनोत्सङ्गमें (धनापहरण करनेवाले चोरकी भाँति) चोरगण डर डरकर लालसासहित बार-बार दृष्टिपात कर रहे हैं ॥ ७६ ॥

उव्वहइ णवतणङ्कुररोमञ्चपसाहिआइँ अंगाइँ ।
पाउसलच्छीअ पओहरेहिँ परिपेल्लिओ विञ्झो ॥ ७७ ॥
[उद्वहति नवतृणाङ्कुररोमाञ्चप्रसाधितान्यङ्गानि ।
प्रावृड्लक्ष्म्या पयोधरैः परिप्रेरितो विन्ध्यः ॥]

वर्षालक्ष्मीके पयोधर, मेघदर्शनसे उत्तेजित हो विन्ध्यपर्वतके नवतृणाङ्कुरके रूपमें रोमाञ्चद्वारा प्रसाधित अङ्गोंको धारण कर रहे हैं ॥ ७७ ॥

आम बहला वणाली मुहला जलरङ्कुणो जलं सिसिरं।
अण्णणईणँ वि रेवाइ तह वि अण्णे गुणा के वि॥ ७८॥
[सत्यं बहला वनाली मुखरा जलरङ्कवो जलं शिशिरम्।
अन्यनदीनामपि रेवायास्तथाप्यन्ये गुणाः केऽपि॥]

यह सच है कि और नदियोंके पास भी तटविस्तृत वनोंकी पंक्ति है, शब्द-मुखर जलरंकु पक्षीगण एवं सुशीतल जल विद्यमान है, तथापि रेवा (नर्मदा) नदीका और भी कोई-कोई सा अतिरिक्त गुण भी है॥ ७८॥

पइ इमीअ णिअच्छइ परिणअमालूरसच्छहे थणए।
तुङ्गे सप्पुरिसमणोरहे व्व हिअए अमाअन्ते॥ ७९॥
[आगत्य पत्या निरीक्ष्यं परिणतमालूरसदृशौ स्तनौ।
तुङ्गौ सत्पुरुषमनोरथाविव हृदये अमान्तौ॥]

आओ एवं सत्पुरुषोंके मनोरथकी भाँति इस रमणीके हृदयदेश (वक्षस्थल) में अमान्त (विपुल अथवा मानके अनुपयोगी) तुङ्ग एवं पके हुए बिल्वफल जैसे स्तनद्वयको निरखो॥ ७९॥

हत्थाहत्थिं अहमहमिआए वासागमम्मि मेहेहिं।
अच्छो किं पि रहस्सं छण्णं पि णहङ्गणं गलइ॥ ८०॥
[हस्ताहस्ति अहमहमिकया वर्षागमे मेघैः।
आश्चर्यं किमपि रहस्यं छन्नमपि नभोङ्गणं गलति॥]

अहो आश्चर्यका विषय यही है कि वर्षागममें अहङ्कारवश हाथोहाथ मिले हुए मेघ-घटाद्वारा आच्छन्न होनेपर भी आकाशरूपी आँगन गिर पड़ रहा है॥

केत्तिअमेत्तं होहिइ सोहग्गं पिअअमस्स भमिरस्स।
महिलामअणच्छुहाउलकडक्खविक्खेवघेप्पन्तं॥ ८१॥
[कियन्मात्रं भविष्यति सौभाग्यं प्रियतमस्य भ्रमणशीलस्य।
महिलामदनक्षुधाकुलकटाक्षविक्षेपगृह्यमाणम्॥]

अन्यान्य नारीके लिए भ्रमणशील प्रियतमका सुभगत्व कितनी देर टिकेगी? कारण, महिलाएँ केवल मदनक्षुधासे आकुल कटाक्षपातद्वारा ही इसे वशमें लाना चाहती हैं॥ ८१॥

णिअधणिअं उवऊहसु कुक्कुडसद्देन जग्गि पडिबुद्ध।
परवसइवाससङ्किर णिभए वि घरम्मि, मा आसु॥ ८२॥

[निजगृहिणीमुपगूहस्व कुक्कुटशब्देन झगिति प्रतिबुद्ध ।
परवसतिवासशङ्किन्निजकेऽपि गृहे मा भैषी ॥]

कुक्कुटरव (मुर्गेकी बोली) से झट ही उठ पड़ो एव अपनी गृहिणीका आलिङ्गन करो । अरे ओ दूसरेके घर रहनेमें सङ्कोची, अपने घरमें दैन्यो भय न करना ॥ ८२ ॥

खरपवणरअगलत्थिअगिरिऊडावडणभिण्णदेहस्स ।
धुक्काधुक्कइ जीअं व विज्जुआ कालमेहस्स ॥ ८३ ॥
[खरपवनरयगलहस्तितगिरिकूटापतनभिन्नदेहस्य ।
धुकधुकायते जीव इव विद्यु कालमेघस्य ॥]

प्रचण्ड पवनद्वारा गलासे हाथद्वारा खिसकाये जाकर, गिरिकूट (गिरिशिखर) से गिरकर अत्यन्त क्षीण देह कालमेघजीव या प्राणकी भाँति बिजली धुक् धुककर काँप रही है ॥ ८३ ॥

मेहमहिसस्स णज्जइ उअरे सुरचावकोडिभिण्णस्स ।
कन्दन्तस्स सविअणं अन्तं व पलम्बए विज्जू ॥ ८४ ॥
[मेघमहिषस्य ज्ञायते उदरे सुरचापकोटिभिन्नस्य ।
क्रन्दतः सवेदनमन्त्रमिव प्रलम्बते विद्युत् ॥]

प्रतीत होता है कि इन्द्रधनुषकी कोटिद्वारा आघातित होकर वेदनावश क्रन्दनशब्दकारी मेघरूप महिषके उदरस्थित अन्त्रकी भाँति बिजुली लम्बमान हो रही है ॥ ८४ ॥

णवपल्लवं विसण्णा पहिआ पेच्छन्ति चूअरुक्खस्स ।
कामस्स लोहिउप्पङ्कराइअं हत्थभल्लं व ॥ ८५ ॥
[नवपल्लवं विषण्णा पथिका पश्यन्ति चूतवृक्षस्य ।
कामस्य लोहितपङ्कराजितं हस्तभल्लमिव ॥]

विरह विषादयुक्त पथिक आम्रवृक्षके नूतनपल्लवकी ओर रक्तरागद्वारा शोभित कामदेवका हस्तस्थित भाला समझकर दृष्टिपात कररहा है ॥ ८५ ॥

महिलाणं चिअ दोसो जेण पवासम्मि गव्विआ पुरिसा ।
दोतिण्णि जाव ण मरन्ति ता ण विरहा समप्पन्ति ॥ ८६ ॥
[महिलानामेव दोषो येन प्रवासे गर्विता पुरुषा ।
द्वे तिस्रो यावन्न म्रियन्ते तावन्न विरहा समाप्यन्ते ॥]

पुरुष जो प्रवासके सम्बन्धमें इतने यशका अनुभव करते हैं—यह महिलाओंका ही दोष है। जब तक महिलाओंमेंसे दो-तीन मर नहीं जायँगी तब तक विरहकी समाप्ति नहीं होगी ॥ ८६ ॥

बालअ दे वच्च लहु मरइ वराई अलं विलम्बेण।
सा तुज्झ दंसणेण वि जीवेज्जइ णत्थि संदेहो ॥ ८७ ॥
[बालक हे व्रज लघु म्रियते वराकी अलं विलम्बेन।
सा तव दर्शनेनापि जीविष्यति नास्ति संदेहः ॥]

हे प्रमाणमित्र बालक, शीघ्र चलो, वराकी (दयनीया) रमणी मरी जा रही है, विलम्ब करने का प्रयोजन नहीं है। तुम्हारे दर्शन पाकर वह बच जायगी, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ८७ ॥

तम्बिरपसरिअहुअवहजालालिपलीविए वणाहोए।
किंसुअवणन्ति कलिऊण मुद्धहरिणो ण णिक्कमइ ॥ ८८ ॥
[ताम्रवर्णप्रसृतहुतवहज्वालावलिप्रदीपिते वनाभोगे।
किंशुकवनमिति कलयित्वा मुग्धहरिणो न निष्क्रामति ॥]

ताम्रवर्ण होकर विस्तृत अग्निशिखासमूह द्वारा प्रज्वलित वनप्रान्तरको भ्रमवश किंशुककानन समझकर मुग्ध हरिण निकल नहीं रहा है। विनाशके कारणको ही सुखका हेतु समझकर मुग्धजन प्रेयसीको छोड़ नहीं सकते ॥ ८८ ॥

णिहुअणसिप्पं तह सारिआइ उल्लाविअं मह गुरुपुरओ।
जह तं वेलं माए ण आणिमो कत्थ वच्चामो ॥ ८९ ॥
[निधुवनशिल्पं तथा शारिकयोल्लपितमस्माकं गुरुपुरतः।
यथा तां वेलां मातर्न जानीमः कुत्र व्रजामः ॥]

हे माता, शारिकाने गुरुजनोंके सम्मुख हम लोगोंके सुरतशिल्पकी कहानी इस प्रकार कह दी थी कि उस समय मैं लज्जासे कहाँ छिप जाऊँ यह समझमें नहीं आया ॥ ८९ ॥

पढमप्फुडन्तदलुल्लसन्तमअरन्दपाणलेहलओ।
तं णत्थि कुन्दकलिआइ जं ण भमरो महइ काउं ॥ ९० ॥
[प्रथमप्रोत्फुल्लदलोल्लसन्मकरन्दपानलुब्धः।
तन्नास्ति कुन्दकलिकाया यन्न भ्रमरो वाञ्छति कर्तुम् ॥]

नवप्रस्फुटितदलविशिष्ट कुन्दकुसुम उल्लसित मधुपानमें लोलुप हो भौंरा कुन्दकलिकासे सम्बन्ध नहीं जोड़ सकता ऐसा काम नहीं है ॥ ९० ॥

सो को वि गुणाइसओ ण आणिमो मामि कुन्दलइआए ।
अच्छीहिं चिअ पाउं अहिलस्सइ जेण भमरेहिं ॥ ९१ ॥

[स कोऽपि गुणातिशयो न जानीमो मातुलानि कुन्दलतिकाया ।
अक्षिभ्यामेव पातुमभिलष्यते येन भ्रमरैः ॥]

हे मामी, मैं नहीं जानती कि कुन्दलतिकाका वह गुणोत्कर्ष कितना है। कारण, भौंरोंने मुख द्वारा नहीं केवल नयनसे ही इसे पीनेकी अभिलाषाकी है ॥ ९१ ॥

एक्क चिअ रूअगुणं गामणिधूआ समुव्वहइ ।
अणिमिसणअणो सअलो जीए देवीकओ गामो ॥ ९२ ॥

[एकैव रूपगुणं ग्रामणीदुहिता समुद्वहति ।
अनिमिषनयनः सकलो यया देवीकृतो ग्रामः ॥]

ग्रामनायककी पुत्री अकेले ही इतना रूप एवं गुण धारण कर रही है कि सारे ग्रामवासी अपलक नयन विशिष्ट हो देवता बनकर खड़े हो गए हैं ॥ ९२ ॥

मण्णे आसाओ चिअ ण पाविओ पिअअमाहररसस्स ।
तिअसेहिँ जेण रअणाअराहि अमअं समुद्धरिअं ॥ ९३ ॥

[मन्ये आस्वाद एव न प्राप्तः प्रियतमाधररसस्य ।
त्रिदशैर्येन रत्नाकरादमृतं समुद्धृतम् ॥]

मुझे प्रतीत होता है कि देवताओंने प्रियतमाके अधररसका स्वाद नहीं पाया है, इसीसे उन्होंने समुद्रसे अमृत निकाला है ॥ ९३ ॥

आअण्णाअड्ढिअणिसिअभल्लमम्माहआइ हरिणीए ।
अद्दंसणो पिओ होहिइ त्ति वलिऊण चिरं दिट्ठो ॥ ९४ ॥

[आकर्णाकृष्टनिशितभल्लमर्माहतया हरिण्या ।
अदर्शनः प्रियो भविष्यतीति वलित्वा चिरं दृष्टः ॥]

व्याधके कान तक आकृष्ट तीक्ष्ण भाले द्वारा आहत होकर भी हरिणी (प्रेमवश) 'मेरा प्रिय दर्शनके अगोचर होगा' ऐसा सोचकर कन्धेको टेढ़ाकर बहुत देरतक निहारने लगी ॥ ९४ ॥

विसमट्ठिअपिक्केक्कम्बदंसणे तुज्झ सत्तुघरिणीए ।
को को ण पत्थिओ पहिआण डिम्भे रुअन्तम्मि ॥ ९५ ॥

[विषमस्थितपक्वैकाम्रदर्शने सति श्वश्रूगृहिण्या ।
क को न प्रार्थित पथिकानां डिम्भे रुदति ॥]

विषम शाखाग्र पर स्थित केवल एक आम्रफलको देखकर शिशु पुत्रके रोने लगने पर, तुम्हारी शत्रु गृहिणीने आम गिरानेके लिए किस किस पथिककी विनती नहीं की ॥ ९५ ॥

मालारी ललिउल्लुलिअबाहुमूलेहिं तरुणहिअआइं ।
उल्लूरइ सज्जुल्लूरिआइं कुसुमाइं दावेन्ती ॥ ९६ ॥
[मालाकारी ललितोल्लुलितबाहुमूलाभ्यां तरुणहृदयानि ।
उल्लुनाति सद्योऽवलूनानि कुसुमानि दर्शयन्ती ॥]

मालिनी तुरत तोड़े गए कुसुमको दिखाने आकर अपने सुन्दर एवं विशाल स्तनद्वारा युवकोंके हृदयको व्याकुल कर रही है ॥ ९६ ॥

मज्झो, पिओ, कुडुम्बो, पल्लिजुआणा, सवत्तीओ ।
जह जह वड्ढन्ति थणा तह तह छिज्जन्ति पञ्च वाहीए ॥ ९७ ॥
[मध्य प्रिय कुटुम्ब पल्लीयुवान सपत्न्य ।
यथा यथा वर्धेते स्तनौ तथा तथा क्षीयन्ते पञ्च व्याधस्याः ॥]

*व्याधवधूके दोनों स्तन जैसे-जैसे बढ़ रहे हैं, वैसे-वैसे पाँच वस्तुएँ क्षीण होती जा रही हैं—उसकी कटि, उसका प्रियतम, उसका कुटुम्ब, गाँवके युवक एवं उसकी सपत्नियाँ ॥ ९७ ॥

मालारीए वेल्लहलबाहुमूलावलोअणसअण्हो ।
अलिअं पि भमइ कुसुमग्घपुच्छिरो पंसुलजुआणो ॥ ९८ ॥
[मालाकार्याः सुन्दरबाहुमूलावलोकनसतृष्ण ।
अलीकमपि भ्रमति कुसुमार्घप्रश्नशील पांसुलयुवा ॥]

मालिनके सुन्दर स्तनयुगल देखनेकी लालसामें परस्त्रीलम्पट युवक झूठमूठ फूलोंका मूल्य पूछता हुआ घूम रहा है ॥ ९८ ॥

अकअण्णुअ घणवण्णं घणपण्णन्तरिअतरणिअरणिअरं ।
जइ रे रे वाणीरं रेवाणीरं पि णो भरसि ॥ ९९ ॥
[अकृतज्ञ घनवर्णं घनपर्णान्तरिततरणिकरनिकरम् ।
यदि रे रे वानीरं रेवानीरमपि न स्मरसि ॥]

रे रे अकृतज्ञ, जो बेंतकुञ्ज मेघ जैसे साँवले, रङ्ग एवं जहाँ सूर्यकिरण

घने पल्लवसमूहोंसे आच्छादित हैं, उस वेतकुञ्जको यदि स्मरण न भी कर सको तो क्या शुभ रेवा (नर्मदा) नदीका जल भी स्मरण नहीं कर सकते ? ९९॥

मन्दं पि ण आणइ हलिअणन्दणो इह हि डड्ढगामम्मि ।
गहवइसुआ विवज्जइ अवेज्जए कस्स साहामो ॥ १०० ॥
[मन्दमपि न जानाति हलिकनन्दन इह हि दग्धग्रामे ।
गृहपतिसुता विपद्यतेऽवैद्यके कस्य कथयाम ॥]

इस वैद्य शून्य जले गाँवमें गृहपतिकी नन्दिनी चिकित्साके अभावमें विषाद-युक्त हो जावेगी—हलिकनन्दन (जामाता) यह तनिक अभी नहीं समझ रहा है—किससे यह बात कहूँ ॥ १०० ॥

रसिअजणहिअअदइए कइवच्छलपमुहसुकइणिम्मिइए ।
सत्तसअम्मि समत्तं सट्ठं गाहासअं एअं ॥ १०१ ॥
[रसिकजनहृदयदयिते कविवत्सलप्रमुखसुकविनिर्मिते ।
सप्तशतके समाप्तं षष्ठं गाथाशतकमेतत् ॥]

रसिकजनोंके हृदयकी अतिप्रिय एवं कविवत्सल प्रमुख सुकविगण द्वारा रचित सप्तशतीमें यह षष्ठ गाथाशतक समाप्त हुआ ॥ १०१ ॥

सप्तम शतक

एक्कक्कमपरिरक्खणपहारसंमुहे कुरङ्गमिहुणम्मि।
वाहेण मण्णुविअलन्तबाहधोअं धणुं मुक्कं॥ १॥
[अन्योन्यपरिरक्षणप्रहारसंमुखे कुरङ्गमिथुने।
व्याधेन मन्युविगलद्बाष्पधौतं धनुर्मुक्तम्॥]

मृग-मृगीको परस्पर रक्षाके निमित्त प्रहारके सम्मुख होते देखकर व्याधने करुणावश विगलित बाष्पद्वारा धौत (सिक्त) धनुषको छोड़ दिया॥ १॥

ता सुहअ विलम्ब खणं भणामि कीअ वि कएण अलमहव वा।
अविआरिअकज्जारम्भआरिणी मरउ ण भणिस्सं॥ २॥
[तत्सुभग विलम्बस्व क्षणं भणामि कस्या अपि कृतेनालमथ वा।
अविचारितकार्यारम्भकारिणी म्रियतां न भणिष्यामि॥]

हे सुभग, थोड़ी देर रुको, एक स्त्रीके सम्बन्धमें तुमसे कुछ कहना चाहती हूँ, या कहनेका क्या काम? बिना विचारे कार्यको प्रारंभ करनेवाली वह मारी जाय तो मारी जाय, उसके लिए तुम्हें मैं कुछ नहीं कहूँगी॥ २॥

मोअणिदिण्णपहेणअचक्खिअदुस्सिक्खिओ हलिअउत्तो।
एत्ताहे अण्णपहेणआणं छीओहलं देइ॥ ३॥
[मौगिनी दत्तप्रहेणका स्वादनदु शिक्षितो हलिक पुत्रः।
इदानीमन्य प्रहेणकानां छी इति वचनं ददाति॥]

ग्रामीण व्यापारीकी पत्नीद्वारा प्रेषित मोदकादि रूप वायनको खानेमें लालची हलिकपुत्र अन्य लोगोंके भोज्यवस्तुओंकी 'छी छी' कर निन्दा कर रहा है॥ ३॥

पच्चूसमऊहावलिपरिमलणसमूससन्तवत्ताणं।
कमलाणं रअणिविरमे जिअलोअसिरी महमहइ॥ ४॥
[प्रत्यूषमयूखावलिपरिमलनसमुच्छ्वसत्पत्त्राणाम्।
कमलानां रजनिविरामे जितलोकश्रीर्महमहायते॥]

रजनीके अवसानपर प्रातः किरणावलिका संस्पर्श पाकर प्रस्फुटित दलोंवाले कमल-समूहोंकी लोकविजयिनी शोभा सौरभयुक्त होकर सर्वत्र व्याप्त हो रही है॥

पाउव्वेल्लिअसाउलि थपसु फुडदन्तमण्डलं जहणं।
चडुआरअं पइं मा हु पुत्ति जणहासिअं कुणसु ॥ ५ ॥
[वातोद्वेल्लितवस्त्रे स्थगय स्फुटदन्तमण्डलं जघनम्।
चटुकारकं पतिं मा खलु पुत्रि जनहास्यं कुरु ॥]

अरी वायुके द्वारा उद्वेलित वस्त्रोंवाली, स्फुट भावसे लक्षित पतिके दन्त चिह्नयुक्त जघनोंको ढँक लो। हे पुत्रि, चाटुकार पतिको लोगोंके हास्यका विषय मत बनाओ ॥ ५ ॥

वीसत्थहसिअपरिसक्किआणँ पढमं जलञ्जली दिण्णो।
पच्छा वहूअ गहिओ कुडम्बभारो णिमज्जन्तो ॥ ६ ॥
[विस्रब्धहसितपरिष्क्रमाणां प्रथम जलाञ्जलिर्दत्तः।
पश्चाद्वध्वा गृहीतः कुटुम्बभारो निमज्जन् ॥]

वधूने पहले तो मुक्त हास्यसे और फिर गमनागमनसे जलाञ्जलि दी है, बादमें दुर्गतिग्रस्त कुटुम्बियोंका भार ग्रहण किया है ॥ ६ ॥

गमिहिसि तस्स पासं सुन्दरि मा तुवअ वड्ढउ मिअङ्को।
दुद्धे दुद्धं मिअ चन्दिआइ को पेच्छइ मुहं दे ॥ ७ ॥
[गमिष्यसि तस्य पार्श्वं सुन्दरि मा त्वरस्व वर्धतां मृगांकः।
दुग्धे दुग्धमिव चन्द्रिकायां कः प्रेक्षते मुखं ते ॥]

हे सुन्दरि, उसके पास जा सकोगी, इतनी शीघ्रताका प्रयोजन नहीं है, चन्द्रमाको और अधिक बढ़ने दो। दूधमें दूधकी तरह, चन्द्रिकामें तुम्हारा मुखड़ा देखनेमें क्या समर्थ होगा ? ॥ ७ ॥

जइ जूरइ जूरउ णाम मामि परलोअवसणिओ लोओ।
तह वि बला गामणिणन्दणस्स वअणे वलइ दिट्ठी ॥ ८ ॥
[यदि खिद्यते खिद्यतां नाम मातुलानि परलोकव्यसनिको लोकः।
तथापि बलाद्ग्रामणीनन्दनस्य वदने वलते दृष्टिः ॥]

हे मामी, परलोकमें आसक्तिवाले व्यक्ति खिन्न हों तो हों, तथापि ग्राम-नायकके पुत्रके मुखकी ओर मेरी दृष्टि बलपूर्वक पड़ रही है ॥ ८ ॥

गेहं व वित्तरहिअं णिज्झरकुहरं व सलिलसुण्णविअं।
गोहणरहिअं गोट्ठं व तीअ वअणं तुह विओए ॥ ९ ॥

[गृहमिव वित्तरहितं निर्झरकुहरमिव सलिलशून्यम् ।
गोधनरहितं गोष्ठमिव तस्या वदनं तव वियोगे ॥]

तुम्हारे विरहमें उसका मुख वित्तरहित (निर्धन) गृहकी भाँति सलिल-शून्य निर्झरगह्वरकी भाँति अथवा गोधनरहित गोष्ठ की भाँति प्रतीत हो रहा है ॥ ९ ॥

तुह दंसणेण अणिओ इमीअ लज्जाउलाइ अणुराओ ।
दुग्गअमणोरहो विअ हिअअ च्चिअ जाइ परिणामं ॥ १० ॥
[तव दर्शनेन जनितोऽस्या लज्जाकुलाया अनुरागः ।
दुर्गतमनोरथ इव हृदय एव याति परिणामम् ॥]

तुम्हारे दर्शनसे उत्पन्न अनुराग, दरिद्रके मनोरथकी भाँति उस लज्जाशीलके हृदयमें ही समाप्त हो जाता है ॥ १० ॥

जं तणुआअइ सा तुह कएण किं जेण पुच्छसि हसन्तो ।
अह गिम्हे मह पअई एव्वं भणिऊण ओरुण्णा ॥ ११ ॥
[या तनूयते सा तव कृतेन किं येन पृच्छसि हसन् ।
अथो ग्रीष्मे मम प्रकृतिरिति भणित्वावरुदिता ॥]

जो रमणी ही कृश हो जाती है, वह क्या तुम्हारे लिए वैसी होती है ? इसी कारण क्या तुम मेरी कृशता के बारे में हँसकर पूछ रहे हो ? 'ग्रीष्मकाल में कृश होना मेरी प्रकृति है' कहकर वह रोने लगी ॥ ११ ॥

वण्णक्कमरहिअस्स वि एस गुणो णवरि चित्तकम्मस्स ।
णिमिसं पि जं ण मुञ्चइ पिओ जणो गाढमुवऊढो ॥ १२ ॥
[वर्णक्रमरहितस्याप्येष गुणः केवलं चित्रकर्मणः ।
निमिषमपि यन्न मुञ्चति प्रियो जनो गाढमुपगूढः ॥]

वर्ण (रङ्ग) विन्यासरहित केवल आलेख्य कर्मका यह गुण दिखायी पड़ता है कि गाढ़भावसे आलिङ्गित प्रियजन प्रियाको पलभरके लिए भी छोड़ते नहीं ॥ १२ ॥

अविहत्तसंधिबन्धं पढमरसुब्भेअपाणलोहिल्लो ।
उव्वेल्लिउं ण आणइ खण्डइ कलिआमुहं भमरो ॥ १३ ॥
[अविभक्तसंधिबन्धं प्रथमरसोद्भेदपानलुब्धः ।
उद्वेल्लितुं न जानाति खण्डयति कलिकामुखं भ्रमरः ॥]

पुष्पके प्रथमोद्भिन्न (प्रथम प्रकट) रस पीनेका लोलुप हो भ्रमर कलिका-का मुख प्रस्फुटित करना नहीं जानता, अपितु इसके सन्धिबन्धनको विभक्त किये बिना ही खण्डित कर देता है ॥ १३ ॥

दरवेविरोरुजुअलासु मउलिअच्छीसु लुलिअचिहुरासु ।
पुरिसाइरीसु कामो पिआसु सज्जाउहो वसइ ॥ १४ ॥
[ईषद्वेपनशीलोरुयुगलासु मुकुलिताक्षीषु लुलितचिकुरासु ।
पुरुषायितशीलासु कामः प्रियासु सज्जायुधो वसति ॥]

विपरीत विहारमें जिन प्रियतमाओंके उरुयुगल ईषत् कम्पमान, नेत्र युगल मुकुलित एवं केशपाश खुले हुए रहते हैं, पुरुषोचित लीला उन्हीं कामिनियोंके लिए कामदेव अस्त्र सज्जित होकर वास करते हैं ॥ १४ ॥

जं जं ते ण सुहाअइ तं तं ण करेमि जं ममाअत्तं ।
अहअं चिअ जं ण सुहामि सुहअ तं किं ममाअत्तं ॥ १५ ॥
[यद्यत्ते न सुखायते तत्तन्न करोमि यन्ममायत्तम् ।
अहमेव यन्न सुखाये सुभग तत्किं ममायत्तम् ॥]

जिन जिनसे तुम्हारा सुख उत्पन्न नहीं होता, वह-वह मैं नहीं करती, कारण वह मेरे वशमें है। हे सुभग, मैं जो सुख अनुभव नहीं करती, वह भी क्या मेरे वशमें है ॥ १५ ॥

वावारविसंवाअं सअलावअवाणँ कुणइ हअलज्जा ।
सवणाणँ उणो गुरुसंणिहे वि ण णिरुज्झइ णिओअं ॥ १६ ॥
[व्यापारविसंवादं सकलावयवानां करोति हतलज्जा ।
श्रवणयोः पुनर्गुरुसंनिधावपि न निरुणद्धि नियोगम् ॥]

निर्लज्ज (दग्ध) लज्जा सभी अवयवोंके व्यवहारमें बाधा पहुँचाती है। किन्तु यह लज्जा गुरुजनोंके समीप भी दोनों कानोंके व्यवहारका निरोध नहीं कर पाती ॥ १६ ॥

किं भणह मं सहीओ मा मर दीसिहइ सो जिअन्तीए ।
कज्जालाओ एसो सिणेहमग्गो उण ण होइ ॥ १७ ॥
[किं भणथ मां सख्यो मा म्रियस्व द्रक्ष्यते स जीवन्त्या ।
कार्यालाप एष स्नेहमार्गः पुनर्न भवति ॥]

अरी सखियो, तुम मुझसे क्या कह रही हो ? 'मरो मत, जीवित रहनेपर

उसे देख पाओगी'—कार्यपर्यालोचनामें तो यह करने योग्य है, किन्तु यह प्रेम-पथ नहीं है॥ १७॥

एक्कक्कमओ दिट्ठीअ मइअ तह पुलइओ सअह्णाए।
पिअजाअस्स जह धणुं पडिअं वाहस्स हत्थाओ॥ १८॥
[एकाकी मृगो दृष्टया मृग्या तथा प्रलोकितः सतृष्णया।
प्रियजायस्य यथा धनुः पतितं व्याधस्य हस्तात्॥]

व्याधका बाण अपने प्रति उद्यत देखकर मृगीने इस प्रकार सतृष्ण नेत्रसे एकाकी मृगकी ओर देखा कि अपनी पत्नीमें अनुरक्त चित्तवाले व्याधके हाथसे धनुष छूट पड़ा॥ १८॥

णलिणीसु भमसि परिमलसि सत्तलं मालइं पि णो मुअसि।
तरलत्तणं तुह अहो महुअर जइ पाडला हरइ॥ १९॥
[नलिनीषु भ्रमसि परिमृद्नासि सप्तलां मालतीमपि नो मुञ्चसि।
तरलत्वं तवाहो मधुकर यदि पाटला हरति॥]

हे भ्रमर, तुम नलिनियोंके निकट बहते-फिरते हो। नवमालिकाका मर्दन भी करते हो और मालतीको भी छोड़ते नहीं, अब पाटल पुष्प यदि तुम्हारी यह चित्तचञ्चलता हरणकर सकती॥ १९॥

दो अङ्गुलअकवाडअपिणद्धसविसेसणीलकञ्चुइआ।
दावेइ थणत्थलवण्णिअं व तरुणी जुअजणाणं॥ २०॥
[द्व्यङ्गुलककपाटपिनद्धसविशेषनीलकञ्चुकिका।
दर्शयति स्तनस्थलवर्णिकामिव तरुणी युवजनेभ्यः]

दो अँगुली परिमित अवकाशयुक्त, विशेषतः नीले रंगकी कञ्चुकिका पहनकर तरुणी मानो युवकोंको स्तनस्थलसंबंधमें आदर्श प्रदर्शित कर रही है॥

रक्खेइ पुत्तअं मत्थएण ओच्छोअअं पडिच्छन्ती।
अंसूहिँ पहिअघरिणी ओल्लिज्जन्तं ण लक्खेइ॥ २१॥
[रक्षति पुत्रकं मस्तकेन पटलप्रान्तोदकं प्रतीच्छन्ती।
अश्रुभिः पथिकगृहिणी आर्द्रीभवन्तं न लक्षयति॥]

अपने छतसे गिरनेवाले जलको अपने मस्तकपर सहनकर पथिककी गृहिणी पुत्रकी रक्षा कर रही है, किन्तु वह जो अपने अश्रुधारासे उसे सींचे दे रही है, इस ओर उसने लक्ष्य नहीं किया॥ २१॥

सरए सरम्मि पहिआ जलाइँ कन्दोट्टसुरहिगन्धाइं ।
धवलच्छाइँ सअण्हा पिअन्ति दइआणँ व मुहाइं ॥ २२ ॥
[शरदि सरसि पथिका जलानि नीलोत्पलसुरभिगन्धीनि ।
धवलाच्छानि सतृष्णा पिबन्ति दयितानामिव मुखानि ॥]

शरत्में पथिक सरोवरमें नीलकमलके सुरभिगन्धविशिष्ट धवल एवं स्वच्छ जलको प्रियतमाओंके (धवलाक्ष) मुखके जैसा समझकर सतृष्ण होकर पान कर रहा है। सरोवरका तीर सङ्केतस्थान नहीं होसकती ॥ २२ ॥

अब्भन्तरसरसाओ उवरिं पव्वाअबद्धपङ्काओ।
चङ्कम्मन्तम्मि जणे समूससन्ति व्व रच्छाओ ॥ २३ ॥
[अभ्यन्तरसरसा उपरि प्रवातबद्धपङ्का ।
चङ्क्रममाणे जने समुच्छ्वसन्तीव रथ्या ॥]

लोग आते जाते रहते हैं। इस कारण अभ्यन्तरमें रस (जल) युक्त एवं बाहर वायुके प्रभावसे बद्ध पङ्कमार्ग जैसे साँस ले रहे हैं (स्पष्ट दृश होनेपर भी नायिका भीतरसे अनुरागिणी है) ॥ २३ ॥

मुहपुण्डरीअछाआइ संठिआ उअह राअहंसे व्व ।
छणपिट्ठकुट्टणुच्छलिअधूलिधवले थणे वहइ ॥ २४ ॥
[मुखपुण्डरीकच्छायायां संस्थितौ पश्यत राजहंसाविव ।
क्षणपिष्टकुट्टनोच्छलितधूलिधवलौ स्तनौ वहति ॥]

देखो, रमणी अपने मुखपद्मकी छायामें संस्थित राजहंसद्वयकी भाँति, उत्सवदिनके पूएकी पेरसे उछाले हुए धूलिद्वारा धवलित स्तनद्वय वहन कर रही है ॥ २४ ॥

तह तेणवि सा दिट्ठा तीअ वि तह तस्स पेसिआ दिट्ठी ।
जह दोण्ह वि समअं चिअ णिव्वुत्तरआइँ जाआइं ॥ २५ ॥
[तथा तेनापि सा दृष्टा तयापि तथा तस्मै प्रेषिता दृष्टिः ।
यथा द्वावपि सममेव निर्वृत्तरतौ जातौ ॥]

वह रमणी उसके द्वारा उसी प्रकार देखी गई, एवं उस युवकके प्रति उस रमणीने भी उसी प्रकार दृष्टिपात किया जिससे एक ही साथ दोनोंको रतिसुख मिला ॥ २५ ॥

पाउलिआपरिसोसण कुडङ्गपत्तलणसुलहसंकेअ ।
सोहग्गकणअकसवट्ट गिम्ह मा कह वि झिज्जिहिसि ॥ २६ ॥

[स्वल्पवापिकापरिशोषण निकुञ्जपत्रकरण सुलभसंकेत ।
सौभाग्यकनककषपट्ट ग्रीष्म मा कथमपि क्षीणो भविष्यसि ॥]

हे ग्रीष्म, तुम छोटी वापिकाको सुखानेवाले हो, निकुञ्जवनके पत्तोंके उत्पादक हो, तुम्हारी उपस्थितिमें सङ्केतस्थान सुलभ होता है एवं तुम सौभाग्यसुवर्णकी कसौटी सदृश हो, तुम कभी क्षीण मत होना ॥ २६ ॥

दुस्सिक्खिअरअणपरिक्खएहिँ घिट्ठोसि पत्थरे ताव ।
जा तिलमेत्तं वट्टसि मरगअ का तुज्झ मुल्लकहा ॥ २७ ॥
[दुःशिक्षितरत्नपरीक्षकैर्घृष्टोऽसि प्रस्तरे तावत् ।
यावत्तिलमात्रं वर्तसे मरकत का तव मूल्यकथा ॥]

हे मरकत, अनभिज्ञ रत्नपरीक्षक तुमको तबतक पत्थरपर घिसेंगे, जबतक तुम तिलभरमें पर्यवसित होओगे। अबसे मूल्य निर्धारणकी बात तो दूर ही रही ॥ २७ ॥

जह चिन्तेइ परिअणो आसङ्कइ जह अ तस्स पडिवक्खो ।
बालेण वि गामणिणन्दणेण तह रक्खिआ पल्ली ॥ २८ ॥
[यथा चिन्तयति परिजन आशङ्कते यथा च तस्य प्रतिपक्षः ।
बालेनापि ग्रामणीनन्दनेन तथा रक्षिता पल्ली ॥]

उसके परिजन जिसप्रकार चिन्तातुर हुए थे एवं उसके शत्रुओंने जिस प्रकारकी आशङ्का प्रकट की थी—ग्रामनायकका पुत्र बालक होनेपर भी गाँवकी उसीप्रकार रक्षा करनेमें समर्थ हुआ था ॥ २८ ॥

अण्णेसु पहिअ ! पुच्छसु वाहअपुत्तेसु पुसिअचम्माइं ।
अम्हं वाहजुआणो हरिणेसु धणुं ण णामेइ ॥ २९ ॥
[अन्येषु पथिक पृच्छ व्याधकपुत्रेषु पृषतचर्माणि ।
अस्माकं व्याधयुवा हरिणेषु धनुर्न नामयति ॥]

हे पथिक, तुम अन्यान्य व्याधपुत्रोंके यहाँ पृषत नामक चित्रमृगविशेषके चर्मके सम्बन्धमें पूछो। हमारे व्याधयुवा हरिणोंके ऊपर धनुष नहीं छोड़ते ॥

गअवहुवेहव्वअरो पुत्तो मे एक्ककण्डविणिवाई ।
तह सोण्हाइ पुलइओ जह कण्डकरण्डअं वहइ ॥ ३० ॥
[गजवधूवैधव्यकरः पुत्रो मे एककाण्डविनिपाती ।
तथा स्नुषया प्रलोकितो यथा काण्डसमूहं वहति ॥]

मेरा पुत्र पहले केवल एक बाण चलाकर गजवधुओंको विधवाकर सकता था, किन्तु पुत्रवधू (पतोहू) द्वारा इसप्रकार देखा जाता है कि अब वह बाणोंको केवल ढोता है ॥ ३० ॥

विञ्झारुहणालावं पल्ली मा कुणउ गामणी ससइ ।
पच्चुज्जिविओ जइ कह वि सुणइ ता जीविअं मुअइ ॥ ३१ ॥
[विन्ध्यारोहणालापं पल्ली मा करोतु ग्रामणी श्वसिति ।
प्रत्युज्जीवितो यदि कथमपि शृणोति तज्जीवितं मुञ्चति ॥]

ग्रामवासी कहीं चोरभयसे विन्ध्यपर्वतपर पलायनके लिए चढ़नेका राग न अलापें, ग्रामनायक अभी भी जीवित है, यदि प्राण लौट आनेपर वह किसी प्रकार सुन ले तो प्राणत्यागकर देगा ॥ ३१ ॥

अप्पाहेइ मरन्तो पुत्तं पल्लीवई पअत्तेण ।
मह णामेण जह तुमं ण लज्जसे तह करेज्जासु ॥ ३२ ॥
[शिक्षयति म्रियमाणः पुत्रं पल्लीपतिः प्रयत्नेन ।
मम नाम्ना यथा त्वं न लज्जसे तथा करिष्यसि ॥]

मरता मृतप्राय गाँवका मुखिया यत्नपूर्वक पुत्रको यह उपदेश दे रहा है—इस प्रकार काम करना कि मेरा नाम लेनेपर कोई तुम्हें लज्जित न करे ॥

अणुमरणपत्थिआए पच्चागअजीविए पिअअमम्मि ।
वेहव्वमण्डणं कुलवहूअ सोहग्गअं जाअं ॥ ३३ ॥
[अनुमरणप्रस्थिताया प्रत्यागतजीविते प्रियतमे ।
वैधव्यमण्डनं कुलवध्वाः सौभाग्यकं जातम् ॥]

प्रियतमके प्राण लौट आनेपर अनुमरणमें उद्यत कुलवधूका वैधव्यश्रृङ्गार सौभाग्यश्रृङ्गारमें परिणत हो गया ॥ ३३ ॥

महुमच्छिआइ दट्ठं दट्ठूण मुहं पिअस्स सूणोट्ठं ।
ईसालुई पुलिन्दी रुक्खच्छायं गआ अण्णं ॥ ३४ ॥
[मधुमक्षिकया दष्टं दृष्ट्वा मुखं प्रियस्योच्छूनौष्ठम् ।
ईर्ष्यालुः पुलिन्दी वृक्षच्छायां गतान्याम्]

मधुमक्षिका द्वारा दंशित प्रियतमके फूले हुए ओठसे युक्त मुखको देखकर ईर्ष्यापरायण जङ्गल निवासी पर्वतीय पुलिन्दपत्नी दूसरे वृक्षकी छायामें चली गयी ॥ ३४ ॥

धण्णा वसन्ति णीसङ्कमोहणे बहलपत्तलवइम्मि ।
वाअन्दोलणओणविअवेणुगहणे गिरिग्गामे ॥ ३५ ॥
[धन्या वसन्ति निःशङ्कमोहने बहलपत्रलवृतौ ।
वातान्दोलनावनामितवेणुगहने गिरिग्रामे ॥]

जिस ग्राममें वृक्षकी बहलपत्रराजिद्वारा आवेष्टित स्थान है, जो वायुके झोंकेमें अवनमित वेणुवन द्वारा गहन है एवं जहाँ निःशङ्करूपसे सुरतसुख अनुभूत हो सकता है—ऐसे गिरिग्राममें धन्यपुरुष ही निवास करते हैं ॥३५॥

पप्फुल्लघणकलम्बा णिद्धोअसिलाअला मुइअमोरा ।
पसरन्तोज्झरमुहला ओसाहन्ते गिरिग्गामा ॥ ३६ ॥
[प्रोत्फुल्लघनकदम्बा निर्धौतशिलातला मुदितमयूराः ।
प्रसरन्निर्झरमुखरा उत्साहयन्ति गिरिग्रामाः ॥]

जहाँपर घनसन्निविष्ट कदम्बवृक्ष पुष्पविकाससे प्रफुल्ल, शिलातलसमूह जलद्वारा धौत, मयूरकुलआनन्दित एवं जो झरते हुए निर्झरसमूहसे मुखरित है—वे गिरिग्राम ही मनुष्यको प्रोत्साहित करते हैं ॥ ३६ ॥

तह परिमलिआ गोवेण तेण हत्थं पि जाण ओल्लेइ ।
स च्चिअ धेणू एह्रिं पेच्छसु कुडदोहिणी जाआ ॥ ३७ ॥
[तथा परिमलिता गोपेन तेन हस्तमपि या नार्द्रयति ।
सैव धेनुरिदानीं प्रेक्षस्व कुटदोहिनी जाता ॥]

देखो, जो धेनु पहले उस गोपद्वारा उस प्रकार दुहे जाकर भी उसके हाथको भी गीला नहीं कर पाती थी, वही घड़ा भरकर दूध दे रही है ॥ ३७ ॥

धवलो जिअइ तुह कए धवलस्स कए जिअन्ति गिट्ठीओ ।
जिअ तम्बे अम्ह वि जीविएण गोट्ठं तुमाअत्तं ॥ ३८ ॥
[धवलो जीवति तव कृते धवलस्य कृते जीवन्ति गृष्टयः ।
जीव हे गौ अस्माकमपि जीवितेन गोष्ठं त्वदायत्तम् ॥]

हे धेनु, तुम्हारे ही सुखके लिए गोरा बैल प्राणधारण करता है एवं एकवार प्रसूता धेनुएँ भी उनके सुखके लिए जीवित हैं। तुम बची रहो, अपने जीवनद्वारा तुमने हमलोगोंके गोष्ठको अपने आधीन कर रखा है ॥ ३८ ॥

अग्घाइ छिवइ चुम्बइ ठवेइ हिअअम्मि जणिअरोमञ्चो ।
जाआकवोलसरिसं पेच्छइ पहिओ महुअपुप्फं ॥ ३९ ॥

[आजिघ्रति स्पृशति चुम्बति स्थापयति हृदये जनितरोमाञ्चः ।
जायाकपोलसदृशं पश्यत पथिको मधूकपुष्पम् ॥]

देखो, पथिक जायाके कपोलसदृश मधूकपुष्पको पाकर कभी इसे सूँघ रहा है, छू रहा है, कभी इसे चूम रहा है, एवं कभी रोमाञ्चित शरीरमें इसे अपने वक्षःस्थलपर धारण कर रहा है ॥ ३९ ॥

उअ ओल्लिज्जइ मोहं भुअंगकिच्चीअ कडअलग्गाइ ।
ओज्झरधारासङ्कालुएण सीसं वणगएण ॥ ४० ॥
[पश्यार्द्रीक्रियते मोघं भुजङ्गकृत्ती कटकलग्नायाम् ।
निर्झरधाराशङ्कालुकेन शीर्षं वनगजेन ॥]

देखो, जंगली हाथी गिरिकटकमें लग्न सर्पकेंचुलको निर्झरकी धारा समझकर उसमें अपने मस्तकको आर्द्र करनेकी चेष्टा कर रहा है ॥ ४० ॥

कमलं मुअन्त महुअर पिक्ककइत्थाणँ गन्धलोहेण ।
आलेक्खलड्डुअं पामरो व्व छिविऊण जाणिहिसि ॥ ४१ ॥
[कमलं मुञ्चन्मधुकर पक्वकपित्थानां गन्धलोभेन ।
आलेख्यलड्डुकं पामर इव स्पृष्ट्वा ज्ञास्यसि ॥]

हे मधुकर, कमलको छोड़कर पके हुए कपित्थफल (कैंथ) की गन्धसे इसे छूकर ही पामर चित्राङ्कित लड्डू-स्पर्शकी भाँति इसे तुम समझ सकोगे ॥

गिज्जन्ते मङ्गलगाइआहिँ वरगोत्तदिण्णअण्णाए ।
सोउं व णिग्गओ उअह होन्तवहुआइ रोमञ्चो ॥ ४२ ॥
[गीयमाने मङ्गलगायिकाभिर्वरगोत्रदत्तकर्णायाः ।
श्रोतुमिव निर्गतः पश्यत भविष्यद्वधूकाया रोमाञ्चः ॥]

देखो, मङ्गलगायिकाओंके गान गाते रहनेपर, वरके नामोल्लेखपर ध्यान देनेवाली भावी वधूका रोमाञ्च भी जैसे नामश्रवणके लिए निर्गत होरहा है ॥

मण्णे आअण्णन्ता आसण्णविआहमङ्गलुग्गाइं ।
तेहिँ जुआणेहिँ समं हसन्ति मं वेअसकुडङ्गा ॥ ४३ ॥
[मन्ये आकर्णयन्त आसन्नविवाहमङ्गलोद्गीतम् ।
तैर्युवभिः समं हसन्ति मां वेतसनिकुञ्जाः ॥]

जान पड़ता है कि उन युवकगणके साथ ही साथ बेंत निकुञ्ज समूह भी मेरे आसन्न विहारके मङ्गलगीतको सुनकर मेरा उपहास कर रहे हैं ॥ ४३ ॥

उअगअचउत्थिमङ्गलदोन्तवियोअसविसेसलग्गेहिँ ।
तीअ वरस्स अ सेअंसुएहिँ रुण्णं व हत्थेहिँ ॥ ४४ ॥

[उपगतचतुर्थीमङ्गलदिवसवियोगसविशेषसंलग्नाभ्याम् ।
तस्या वरस्य च स्वेदाश्रुभी रुदितमिव हस्ताभ्याम् ॥]

उपस्थित चतुर्थी मङ्गलके दिन भावीवियोगके भयसे विशेषरूपसे संश्लिष्ट वरवधूके दोनों हाथ जैसे पसीनेरूपी आँसू बहाकर रो रहे हैं ॥ ४४ ॥

ण अ दिट्ठिं णेइ मुहं ण अ छिविउं देइ णालवइ किं पि ।
तह वि हु किं पि रहस्सं णववहुसङ्गो पिओ होइ ॥ ४५ ॥

[न च दृष्टिं नयति मुखं न च स्प्रष्टुं ददाति नालपति किमपि ।
तथापि खलु किमपि रहस्यं नववधूसङ्गः प्रियो भवति ॥]

नवोढा स्वामीके मुखकी ओर दृष्टि नहीं डालती । अपनेको छूने भी नहीं देती और कुछ बोलती भी नहीं तब भी नवोढा जो लोगोंको प्यारी लगती है, इसका अपूर्व रहस्य है ॥ ४५ ॥

अलिअपसुत्तअवलन्तम्मि णववरे णववहूअ वेवन्तो ।
संवेल्लिओरुसंजमिअवत्थगण्ठि गओ हत्थो ॥ ४६ ॥

[अलीकप्रसुप्तवलमाने नववरे नववध्वा वेपमानः ।
संवेल्लितोरुसंयमितवस्त्रग्रन्थिं गतो हस्तः ॥]

नये वरके झूठमूठ सोकर करवट बदलने पर नवोढाका हाथ काँपते काँपते अन्योन्य सवेष्टित उरुयुगलद्वारा नियमित वस्त्रग्रन्थिकी ओर बढ़ जाता है ॥

पुच्छिज्जन्ती ण भणइ गहिआ पप्फुरइ चुम्बिआ रुअइ ।
तुण्हिक्का णववहुआ कआवराहेण उवऊढा ॥ ४७ ॥

[पृच्छ्यमाना न भणति गृहीता प्रस्फुरति चुम्बिता रोदिति ।
तूष्णीका नववधूः कृतापराधेनोपगूढा ॥]

कृतापराध नये वरद्वारा आलिङ्गित हो कर निर्वाक् नवोढा पूछी जानेपर जवाब नहीं देती, हाथद्वारा पकड़ी जानेपर होली या उपर नीचे करती रहती है एवं चूमी जानेपर रोती है ॥ ४७ ॥

तत्तो चिअ होन्ति कहा विअसन्ति तहिँ तहिँ समप्पन्ति ।
किं मण्णे माउच्छा एक्कजुआणो इमो गामो ॥ ४८ ॥

[तत एव भवन्ति कथा विरमन्ति तत्र तत्र समाप्यन्ते ।
किं मन्ये मातृष्वस एक युवकोऽयं ग्राम ॥]

हे मौसी, उस विषयको लेकर ही बात आरम्भ होती है, चलती रहती है एवं उसीमें बात समाप्त हो जाती है, मुझे लगता है जैसे कि इस गाँवमें एक ही युवक वर्तमान है ॥ ४८ ॥

जाइँ वअणाइँ अम्हे वि जम्पिमो ताइँ जम्पइ जणो वि ।
ताइं च्चिअ तेण पजम्पिआइं हिअअं सुहावेन्ति ॥ ४९ ॥
[यानि वचनानि वयमपि जल्पामस्तानि जल्पति जनोऽपि ।
तान्येव तेन प्रजल्पितानि हृदयं सुखयन्ति ॥]

जो बातें हम लोग बोलते हैं, अन्य लोग भी उसे ही बोलते हैं, किन्तु वे ही बातें प्रियतमद्वारा बोली जानेपर मेरे हृदयमें सुख उत्पन्न करती हैं ॥ ४९ ॥

सव्वाअरेण मग्गह पिअं जणं जइ सुहेण वो कज्जं ।
जं जस्स हिअअदइअं तं ण सुहं जं तहिं णत्थि ॥ ५० ॥
[सर्वादरेण मृगयध्वं प्रियं जनं यदि सुखेन वः कार्यम् ।
यद्यस्य हृदयदयितं तन्न सुखं यत्तत्र नास्ति ॥]

तुम लोगों को यदि सुखसे प्रयोजन हो तो प्रियतमको खोज लो । कारण, ऐसा हो नहीं सकता कि कोई ऐसा सुख हो जो व्यक्तिके प्रिय व्यक्तिमें न हो ॥ ५० ॥

दीसन्तो दिट्ठिसुओ चिन्तिज्जन्तो मणवल्लहो अत्ता ।
उल्लावन्तो सुइसुहो पिओ जणो णिच्चरमणिज्जो ॥ ५१ ॥
[दृश्यमानो दृष्टिसुखश्चिन्त्यमानो मनोवल्लभ श्वश्रु ।
उल्लाप्यमान श्रुतिसुख प्रिय जनो नित्यरमणीय ॥]

अरी सास, देखनेपर दृष्टिसुखकर, चिन्तित होनेपर मनमोहक एवं कथाप्रसङ्ग में उल्लिखित होनेपर श्रुतिसुख—इस प्रकार प्रियजन हमेशा ही रमणीय रहते हैं ॥ ५१ ॥

ठाणब्भट्ठा परिगलिअपीणआ उण्णईअ परिचत्ता ।
अम्हे उण ठेरपओहर व्व उअरे च्चिअ णिसण्णा ॥ ५२ ॥
[स्थानभ्रष्टा परिगलितपीनत्वा उन्नत्या परित्यक्ता ।
वयं पुन स्थविरापयोधरा इवोदर एव निषण्णा ॥]

द्रुमलोग हो, लेकिन, स्थानच्युत, पीनत्वविहीन एव उन्नतिसे वञ्चित वृद्धाके स्तनकी भाँति केवल उदरपोषण के लिए यत्नशील हैं ॥ ५२ ॥

पच्चूसागअ रञ्जिअदेह पिआलोअ लोअणाणन्द ।
अण्णत्त खविअसव्वरि णहभूसण दिणवइ णमो दे ॥ ५३ ॥

[प्रत्यूषागत रञ्जितदेह प्रियालोक लोचनानन्द ।
अन्यत्र क्षपितशर्वरीक नभोभूषण दिनपते नमस्ते ॥]

हे सूर्य, तुम्हें नमस्कार करती हूँ—तुम प्रातःकाल आते हो, तुम्हारा शरीर रक्तिम है, तुम्हारा प्रकाश प्रिय लगता है, तुम आनन्दविधायक हो, तुमने दूसरे देशमें रात बिताया है एव तुम आकाश मण्डलके भूषण हो ॥ ५३ ॥

विवरीअसुरअलेहल पुच्छसि मह कीस गब्भसंभूइं ।
ओअत्ते कुम्भमुहे जललवकणिआ वि किं ठाइ ॥ ५४ ॥

[विपरीतसुरतलम्पट पृच्छसि मम किमिति गर्भसंभूतिम् ।
अपवृत्ते कुम्भमुखे जललवकणिकापि किं तिष्ठति ॥]

हे विपरीत सुरत लुब्ध, मेरे गर्भके विषयमें क्यों पूछते हो ? नीचे की ओर मुख अवनत होने पर भी क्या कुम्भमें जलबिन्दु कण भी टिक सकता है ? ॥ ५४ ॥

अच्चासण्णविवाहे समं जसोआइ तरुणगोवीहिं ।
वड्ढन्ते महुमहणे संबन्धा णिण्हुविज्जन्ति ॥ ५५ ॥

[अत्यासन्नविवाहे सम यशोदया तरुणगोपीभि ।
वर्धमाने मधुमथने सबन्धा निह्नूयन्ते ॥]

मधुसूदनकी वय वृद्धि पर, जब उनका विवाह समय एकदम निकट आ गया, तब तरुण गोपियोंने यशोदासे अपना उनका सम्बन्ध छिपा लिया ॥५५॥

जं जं आलिहइ मणो आसावट्टीहिँ हिअअफलअम्मि ।
तं तं वालो व्व विही णिहुअं हसिऊण पम्हुसइ ॥ ५६ ॥

[यद्यदालिखति मन आशावर्तिकाभिर्हृदयफलके
तत्तद्बाल इव विधिर्निभृत हसित्वा प्रोञ्छति ॥]

मन आशारूप तूलिकासे हृदयरूप फलकपर जो जो चित्र अङ्कित कर रहा है, बच्चों की भाँति विधि सङ्गोपनसे वे सारे चित्र पोंछते जा रहे हैं ॥ ५६ ॥

अणुहुत्तो करफंसो सअलअलापुण्ण पुण्णदिअहम्मि ।
बीआसङ्गकिसङ्गअ एह्निं तुह वन्दिमो चलणे ॥ ५७ ॥
[अनुभूत करस्पर्शः सकलकलापूर्ण पूर्णदिवसे ।
द्वितीयासङ्गकृशाङ्ग इदानीं तव वन्दामहे चरणौ ॥]

हे सकलकलापूर्ण, पूर्णिमाके दिन तुम्हारे करका सस्पर्श अनुभूत हुआ है। अरे चन्द्र, द्वितीया (तिथि एवं रमणी) के संयोगसे तुम अत्यन्त कृश हो गए हो—तुम्हारे चरणों की वन्दना कर रही हूँ ॥ ५७ ॥

दूरन्तरिए वि पिए कह वि णिअत्ताइँ मज्झ णअणाइँ।
हिअअं उण तेण समं अज्ज वि अणिवारिअं भमइ ॥ ५८ ॥
[दूरान्तरितेऽपि प्रिये कथमपि निवर्तिते मम नयने ।
हृदयं पुनस्तेन सममद्याप्यनिवारितं भ्रमति ॥]

प्रियतमके दूरदेश चले जानेपर मैंने किसी प्रकार नयनोंको तो फेर लिया, किन्तु मेरा हृदय अभी भी उसके साथ सतत अबाध रूपमें घूम रहा है ॥ ५८ ॥

तस्स कहाकण्टइए सद्दाअण्णणसमोसरिअकोवे ।
समुहालोअणकम्पिरि उवऊढा किं पवज्जिहिसि ॥ ५९ ॥
[तस्य कथाकण्टकिते शब्दाकर्णनसमपसृतकोपे ।
सम्मुखालोकनकम्पनशीले उपगूढा किं प्रपत्स्यसे ॥]

तुम उसकी बात चलते ही रोमाञ्चित हो जाती हो, उसके शब्दोंको सुनते ही कोप छोड़ देती हो एवं उसे सामने देखकर काँप जाती हो—आलिङ्गित होनेपर तुम क्या करोगी ? ॥ ५९ ॥

भरणमिअणीलसाहग्गखलिअचलणद्धविहुअपक्खउडा ।
तरुसिहरेसु विहंगा कह कह वि लहन्ति संठाणं ॥ ६० ॥
[भारनमितनीलशाखाग्रस्खलितचरणार्धविधुतपक्षपुटाः ।
तरुशिखरेषु विहगाः कथं कथमपि लभन्ते संस्थानम् ॥]

अपने भारसे झुके हुए नीलशाखाग्रभागसे चरणार्द्धके स्खलित हो जानेपर, पक्षपुटको कम्पित कर, तरुशिखरोंपर पक्षी किसीप्रकार स्थान प्राप्त कर रहे हैं ॥ ६० ॥

अहरमहुपाणघारिल्लिआइ जं च रामओ सि सविसेसं ।
असइ अलाउरि वहुसिक्खिरि त्ति मा णाह मण्णिहिसि ॥ ६१ ॥

[अधरमधुपानलालसया यत्र रमितोऽसि सविशेषम् ।
असती अलज्जाशीला बहुशिक्षितेति मा नाथ मंस्था ॥]

हे नाथ, अपने अधरमधुपानकी लालसासे तुम जो विशिष्टभावसे रमित हुए हो—इस कारण मुझे असती, लज्जाविहीना एवं बहुविधशिक्षिता मत समझना ॥ ६१ ॥

खाणेण अ पाणेण अ तह गहिओ मण्डलो अडअणाए ।
जह जारं अहिणन्दइ भुक्कइ घरसामिए एन्ते ॥ ६२ ॥
[खादनेन च पानेन च तथा गृहीतो मण्डलोऽसत्या ।
यथा जारमभिनन्दति भुक्कति गृहस्वामिन्येति ॥]

स्वेच्छाचारिणीने आहार एवं पानद्वारा कुत्तेको इस प्रकार वशीभूत कर लिया है कि वह जारको आते देख अभिनन्दन करता है और गृहस्वामीको आते देख भूँक उठता है ॥ ६२ ॥

कण्डुज्जुएण अकण्डे पल्लीमज्झम्मि विअडकोअण्डं ।
पइमरणाहिँ वि अहिअं वाहेण रुआविआ अत्ता ॥ ६३ ॥
[कण्डूयता अकाण्डे पल्लीमध्ये विकटकोदण्डम् ।
पतिमरणादप्यधिकं व्याधेन रोदिता श्वश्रूः ॥]

गाँवके बीचोबीच व्याध अनायास ही अपने भारसे युक्त धनुषको खुजलाने-की चेष्टाकर सासको पतिके मरनेकी अपेक्षा अधिक रुलाया है ॥ ६३ ॥

अम्हे उज्जुअसीला पिओ वि पिअसहि विआरपरिओसो ।
ण हु अण्णा का वि गई बाहोहा कहँ पुसिज्जन्तु ॥ ६४ ॥
[वयं ऋजुकशीलाः प्रियोऽपि प्रियसखि विकारपरितोषः ।
न खल्वन्या कापि गतिर्बाष्पौघाः कथं प्रोञ्छ्यन्ताम् ॥]

अरी प्यारी सखी हम सरलशील हैं, फिर भी प्रियतम हावभावादि विकारोंसे सन्तुष्ट रहते हैं। कोई दूसरा उपाय नहीं है, किस प्रकार बाष्प प्रवाहको पोंछ डालूँ ॥ ६४ ॥

धवलो सि जइ वि सुन्दर तह वि तुए मज्झ रञ्जिअं हिअअं ।
राअभरिए वि हिअए सुहअ णिहित्तो ण रत्तो सि ॥ ६५ ॥
[धवलोऽसि यद्यपि सुन्दर तथापि त्वया मम रञ्जितं हृदयम् ।
रागभृतेऽपि हृदये सुभग निहितो न रक्तोऽसि ॥]

हे सुन्दर, तुम गोरे हो, फिर भी तुमने मेरे हृदयको रागरञ्जित कर दिया है और हे सुभग, मेरे रागपूर्ण हृदयमें रहकर भी तुम रञ्जित नहीं हो रहे हो ॥ ६५ ॥

चञ्चुपुडाहअविअलिअसहआररसेण सित्तदेहस्स ।
कीरस्स मग्गलग्गं गन्धन्धं भमइ भमरउलं ॥ ६६ ॥
[चञ्चुपुटाहतविगलितसहकाररसेन सिक्तदेहस्य ।
कीरस्य मार्गलग्नं गन्धान्धं भ्रमति भ्रमरकुलम् ॥]

कटाक्षोंके आघातसे गिरे हुए आमके रसद्वारा सिक्तदेह तोतापक्षीके मार्गमें लगकर गन्धान्ध भ्रमरकुल घूम रहा है ॥ ६६ ॥

एत्थ णिमज्जइ अत्ता एत्थ अहं एत्थ परिअणो सअलो ।
पन्थिअ रत्तीअन्धअ मा महँ सअणे णिमज्जिहिसि ॥ ६७ ॥
[अत्र निमज्जति श्वश्रूरत्राहमत्र परिजनः सकलः ।
पथिक रात्र्यन्धक मा मम शयने निमङ्क्ष्यसि ॥]

यहाँपर सास निस्पन्दभावसे सोनेमें मग्न रहती हैं, यहाँपर मैं और यहाँपर सारे परिजन सोते हैं। अरे रतौंधी रोगके मारे हुए राहगीर, तुम कहीं मेरी शय्यामें निमग्न न हो जाना ॥ ६७ ॥

परिओससुन्दराइं सुरएसु लहन्ति जाइँ सोक्खाइं ।
ताइं च्चिअ उण विरहे खाउग्गिण्णाइँ कीरन्ति ॥ ६८ ॥
[परितोषसुन्दराणि सुरतेषु लभन्ते यानि सौख्यानि ।
तान्येव पुनर्विरहे खादितोद्गीर्णानि कुर्वन्ति ॥]

महिलाएँ सुरतप्रसङ्गमें जिनसारे परितोषसुन्दरसुख अनुभव करती हैं, विरहप्रसङ्गमें उन्हें दुःखरूपमें परिणत होनेके समान उसकी प्रतीति होती है ॥ ६८ ॥

मग्गं च्चिअ अलहन्तो हारो पीणुण्णआणँ थणआणं ।
उव्विग्गो भमइ उरे जमुणाणइफेणपुञ्जो व्व ॥ ६९ ॥
[मार्गमिवालभमानो हारः पीनोन्नतयोः स्तनयोः ।
उद्विग्नो भ्रमत्युरसि यमुनानदीफेनपुञ्ज इव ॥]

पीन एवं उन्नत स्तनद्वयके बीच मार्ग न पानेके कारण ही हार जैसे यमुना नदीके फेनपुञ्जकी भाँति इधर-उधर डोल रहा है ॥ ६९ ॥

एक्केण वि वडवीअङ्कुरेण सअलवणराइमज्झम्मि ।
तह तेण कओ अप्पा जह सेसदुमा तले तस्स ॥ ७० ॥

[एकेनापि वटबीजाङ्कुरेण सकलवनराजिमध्ये ।
तथा तेन कृत आत्मा यथा शेषद्रुमास्तले तस्य ॥]

सारे वनों में बटवृक्षके उस एक बीजाङ्कुरने अपनेको ऐसा कर डाला है कि अवशिष्ट द्रुम उसके नीचे पड़े हुए हैं ॥ ७० ॥

जे जे गुणिणो जे जे अ चाइणो जे विडड्ढविण्णाणा ।
दारिद्द रे विअक्खण ताणँ तुमं साणुराओ सि ॥ ७१ ॥

[ये ये गुणिनो ये ये च त्यागिनो ये विदग्धविज्ञानाः ।
दारिद्र्य रे विचक्षण तेषां त्वं सानुरागमसि ॥]

जो-जो गुणी हैं, जो-जो दाता हैं एवं जो जो विज्ञानमें निपुण हैं, अरे विचक्षणदारिद्र्य, तुम उनके प्रति अनुरक्त हो जाते हो ! ॥ ७१ ॥

जइ कोत्तिओ सि सुन्दर सअलतिहीचन्ददंसणसुहाणं ।
ता मसिणं मोइज्जन्तकञ्चुअं पेच्छसु मुहं से ॥ ७२ ॥

[यदि कौतुकिकोऽसि सुन्दर सकलतिथिचन्द्रदर्शनसुखानाम् ।
तन्मसृणं मोच्यमानकञ्चुकं प्रेक्षस्व मुखं तस्याः ॥]

हे सुन्दर, यदि सारी तिथियोंके चन्द्रको देख आनन्दसम्बन्धी कुतूहल दूर करना चाहते हो तो धीरे धीरे कञ्चुक खोलनेके समय परिदृश्यमान उस नायिकाके मुखड़ेको देखो ॥ ७२ ॥

समविसमणिव्विसेसा समन्तओ मन्दमन्दसंचारा ।
अइरा होहिन्ति पहा मणोरहाणं पि दुल्लङ्घा ॥ ७३ ॥

[समविषमनिर्विशेषाः समन्ततो मन्दमन्दसञ्चाराः ।
अचिराद्भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लङ्घ्याः ॥]

थोड़े ही दिनोंमें सर्वत्र मार्गोंकी यह अवस्था होगी कि समविषमस्थलोंका पता नहीं चलेगा, एवं वहाँ पर आना-जाना भी धीरे-धीरे होगा; यहाँतक कि वह सब मनोरथके चलनेके योग्य भी नहीं रह जायगा ॥ ७३ ॥

अद्दीहपइँ पहुप सीसे दीसन्ति पंसुरचाइं ।
भणिए भणामि अत्ता तुम्हाणँ वि पण्डुरा पुट्ठी ॥ ७४ ॥

[अतिदीर्घाणि वध्वाः शीर्षे दृश्यन्ते वंशपत्राणि ।
भणिते भणामि श्वश्रु युष्माकमपि पाण्डुर पृष्ठम् ॥]

अरी सास, अगर तू कहे कि बहूके मस्तकपर बड़े-बड़े बाँसके पत्ते लगे दिख रहे हैं तो मैं भी कहूँगी कि आपकी पीठ (धूलिके कारण) पीतवर्णकी दिख रही है ॥ ७४ ॥

अत्थक्करूसणं खणपसिज्जणं अलिअवअणणिब्बन्धो ।
उम्मच्छरसंतावो पुत्तअ पअवी सिणेहस्स ॥ ७५ ॥

[आकस्मिकरोषकरणं क्षणप्रसादनमलीकवचननिर्बन्धः ।
उन्मत्सरसंतापः पुत्रक पदवी स्नेहस्य ॥]

हे पुत्रक, अचानक ही रुष्ट और दूसरे ही क्षण खुश, झूठी बातें बनाना एवं द्वेषसे उत्पन्न मन ताप ये स्नेहकी पदवियाँ हैं ॥ ७५ ॥

पिज्जइ कण्णञ्जलिहिँ जणरवमिलिअं वि तुज्झ संलावं ।
दुद्धं जणसंमिलिअं सा बाला रायहंसि व्व ॥ ७६ ॥

[पिबति कर्णाञ्जलिभिर्जनरवमिलितमपि तव संलापम् ।
दुग्धं जलममिलितं सा बाला राजहंसीव ॥]

राजहंसी जिसप्रकार दूधमिले जलसे केवल दूधको पी लेती है, उसी प्रकार वह बाला अन्यव्यक्तियों की बातमें मिले हुए केवल तुम्हारे संलापको कर्णाञ्जलिद्वारा पी ले रही है ॥ ७६ ॥

अइ उज्जुए ण लज्जसि पुच्छिज्जन्ती पिअस्स चरिआइं ।
सव्वङ्गसुरहिणो मरुवअस्स किं कुसुमरिद्धीहिं ॥ ७७ ॥

[अयि ऋजुके न लज्जसे पृच्छन्ती प्रियस्य चरितानि ।
सर्वाङ्गसुरभेर्मरुवकस्य किं कुसुमर्द्धिभिः ॥]

अरी सरलस्वभाववाली, प्रियजनोंके चरितके सम्बन्धमें पूछकर क्या लज्जित नहीं होती ? सर्वाङ्गसुगन्धित (पिण्डखजूरके) मरुवकको सुमनसमृद्धिसे क्या प्रयोजन ? ॥ ७७ ॥

मुद्धे अपत्तिअन्ती पवालअङ्कुरअवण्णलोहिअए ।
णिद्धोअधाउराए कीस सहत्थे पुणो धुअसि ॥ ७८ ॥

[मुग्धेऽप्रत्ययन्ती प्रवालाङ्कुरवर्णलोहितौ ।
निर्धौतधातुरागौ किमिति स्वहस्तौ पुनर्धावयसि ॥]

अरी मुग्धे, प्रवालाङ्कुर वर्णकी भाँति रक्तिम, अपने हाथसे जो धातुराग धुल गया है, यह विश्वास न कर तुम पुनः दोनों हाथोंको क्यों धो रही हो ? ॥ ७८ ॥

उअ सिन्धवपव्वअसच्छहाइँ घुअतूलपुञ्जसरिसाइं ।
सोहन्ति सुअणु मुक्कोअआइँ सरए सिअब्भाइँ ॥ ७९ ॥

[पश्य सैन्धवपर्वतसदृशानि धुततूलपुञ्जसदृशानि ।
शोभन्ते सुतनु मुक्तोदकानि शरदि सिताभ्राणि ॥]

हे सुतनु, देखो, शरद्में सैन्धवपर्वतकी भाँति प्रतीयमान एवं कम्पित तूलपुञ्जकी आकृतिविशेषसे मुक्तजल श्वेत मेघ शोभित हो रहे हैं ॥ ७९ ॥

आउच्छन्ति सिरेहि विवलिएहि उअ सग्गिएहि णिज्जन्ता ।
णिप्पच्छिमवलिअपलोइएहि महिसा कुडङ्गाइं ॥ ८० ॥

[आपृच्छन्ति शिरोभिर्विवलितैः पश्य सङ्गिकैर्नीयमाना ।
निःपश्चिमवलितप्रलोकितैर्महिषाः कुञ्जान् ॥]

बध्यधारी शौनिकों (मांसविक्रेताओं अथवा कसाइयों) द्वारा ले जाते हुए बैल विहङ्गमात्रक को नयनोंसे अन्तिम बार मुड़कर देखते हुए कुञ्जोंसे विदाई ले रहे हैं (अब कुञ्ज निरापद हो गए हैं ।) ॥ ८० ॥

पुसउ मुहं ता पुत्ति अ बाहोअरणं विसेसरमणिज्जं ।
मा एअं चिअ मुहमण्डणं त्ति सो काहिइ पुणो वि ॥ ८१ ॥

[प्रोञ्छय मुखं तत्पुत्रि च (पुत्रिके) बाष्पोत्करणं विशेषरमणीयम् ।
मा इदमेव मुखमण्डनमिति करिष्यसि पुनरपि ॥]

अरी बेटी, आँसू बहानेवाले विशेष रमणीय अपने मुखड़ेको पोंछ डालो । देखो, वह फिर कहीं यह न समझ ले कि यह मुखका शृङ्गार है ॥ ८१ ॥

मज्झे पअणुअपङ्कं अवहोवासेसु साणचिक्खिल्लं ।
गामस्स सीससीमन्तअं व रच्छामुहं जाअं ॥ ८२ ॥

[मध्ये प्रतनुक पङ्कमुभयोः पार्श्वयो श्यानकर्दमम् ।
ग्रामस्य शीर्षसीमन्तमिव रथ्यामुखं जातम् ॥]

गाँवका रास्ता, बीचमें रवरड़ एवं दोनों ओर शुष्कपङ्क धारणकर इसके शीर्षगत सीमन्त जैसा प्रतीत हो रहा है ॥ ८२ ॥

अवरक्षागअजामाउअस्स विउणेइ मोहणुक्कण्ठं।
बहुआइ घरपलोहरमज्जणपिसुणो वलअसद्दो॥ ८३॥

[अपराह्णागतजामातुर्द्विगुणयति मोहनोत्कण्ठाम्।
वध्वा गृहपश्चाद्भागमज्जनपिसुनो वलयशब्दः॥]

घरके बादवाले भागमें वधूके मज्जन (शयन वा स्नान) सूचक वलयशब्द अपराह्नमें आगत जामाताकी सुरतोत्कण्ठाको दुगुना किये डाल रहे हैं॥ ८३॥

जुज्झचवेडामोडिअजज्जरकण्णस्स जुण्णमल्लस्स।
कच्छायन्धो च्चिअ भीरमल्लहिअअं समुक्खणइ॥ ८४॥

[युद्धचपेटामोटितजर्जरकर्णस्य जीर्णमल्लस्य।
कच्छाबन्ध एव भीरमल्लहृदयं समुत्खनति॥]

युद्धमें चपेटाघात पानेके कारण अमर्दित एवं जर्जरकर्णविशिष्ट वृद्धमल्लका मल्लकच्छबन्धन ही भीरुमल्लोंके हृदयको विदारित करता है। वृद्धपतिसे विरक्त रमणी युवा नागरको अधिक आदर देती है॥ ८४॥

आणत्तं तेण तुमं पइणो पहयेण पडहसद्देण।
मल्लि ण लज्जसि णच्चसि दोहग्गे पाअडिज्जन्ते॥ ८५॥

[आज्ञप्ता तेन त्वं पत्या प्रहतेन पटहशब्देन।
मल्लि न लज्जसे नृत्यसि दौर्भाग्ये प्रकटीक्रियमाणे॥]

अरी मल्लपत्नी, पतिके पटह (ढोल) ध्वनिको सुननेपर भी तुम अपने जिस दुर्भाग्यकी घोषणा समझती थी, उस दुर्भाग्यके प्रकट होने लगनेपर भी तुम लज्जित नहीं हो रही हो, वरन् नृत्य कर रही हो॥ ८५॥

मा वच्चह वीसम्भं इमाणँ बहुचाडुकम्मणिउणाणं।
णिव्वत्तिअकज्जपरम्मुहाणँ सुणआणँ व खलाणं॥ ८६॥

[मा व्रजत विस्रम्भमेषां बहुचाटुकर्मनिपुणानाम्।
निर्वर्तितकार्यपराङ्मुखानां शुनकानामिव खलानाम्॥]

कुत्तोंकी तरह चाटुकारितामें निपुण एवं काम निकल जाते ही पराङ्मुख इन दुष्टों का विश्वास मत करना॥ ८६॥

अण्णग्गामपउत्था कुन्ती मण्डलाणँ रिञ्छोलिं।
अक्खण्डिअसोहग्गा वरिससअं जिअउ मे सुणिआ॥ ८७॥

[अन्यग्रामप्रस्थिता कर्षयन्ती मण्डलानां पङ्क्तिम् ।
अखण्डितसौभाग्या वर्षशतं जीवतु मे शुनी ॥]

कुत्तोंके दलको आकृष्टकर दूसरे गाँव में जा बसनेवाली मेरी कुतिया अखण्डसौभाग्यवती हो, सौ वर्ष तक जीवित रहे ॥ ८७ ॥

सच्चं साहसु देअर तह तह चडुआरएण सुणएण ।
णिव्वत्तिअकज्जपरम्मुहत्तणं सिक्खिअं कत्तो ॥ ८८ ॥

[सत्यं कथय देवर तथा तथा चाटुकारकेण शुनकेन ।
निर्वर्तितकार्यपराङ्मुखत्वं शिक्षितं कस्मात् ॥]

हे देवर, सच बताओ तो—सभी प्रकार चापलूसीकर कुत्ता जो काम समाप्त होने पर पराङ्मुख हो जाता है, यह उसने किससे सीखा है अर्थात् तुम्हीं से सीखा है ॥ ८८ ॥

णिप्पण्णसस्सरिद्धी सच्छन्दं गाइ पामरो सरए ।
दलिअणवसालितण्डुलधवलमिअङ्कासु राईसु ॥ ८९ ॥

[निष्पन्नसस्यऋद्धिः स्वच्छन्दं गायति पामरः शरदि ।
दलितनवशालितण्डुलधवलमृगाङ्कासु रात्रिषु ॥]

शरत्कालमें दलित नये शालिधान्यके तण्डुलके समान धवलचन्द्र शोभित विभावरीमें, पामर हालिक प्रचुर सस्यसम्पद् पाकर आनन्दमें गा रहा है ॥८९॥

अलिहिज्जइ पङ्कअले हलालिअवल्लणेण कलमगोवीए ।
केआरसोअरुम्भणतंसट्ठिअ कोमलो चलणो ॥ ९० ॥

[आलिख्यते पङ्कतले हलालिकवल्लनेन कलमगोप्याः ।
केदारस्रोतोरोधतिर्यक् स्थितः कोमलश्चरणः ॥]

(पूर्व[illegible]) केदारस्रोतके अवरोधवश तिरछे खड़ी कलम गोपीके कोमल चरणचिह्न इस वर्ष हलरेखाके खींचे जाते समय कीचड़में खींच डाले जा रहे हैं ॥ ९० ॥

दिअहे दिअहे सूसइ सङ्केअअभङ्गवड्ढिआसङ्का ।
आपण्डुणअमुही कलमेण समं कलमगोवी ॥ ९१ ॥

[दिवसे दिवसे शुष्यति सङ्केतकभङ्गवर्धिताशङ्का ।
आपाण्डुरावनतमुखी कलमेन समं कलमगोपी ॥]

(कमल परिपाकमें) सङ्केतभङ्गकी आशङ्का बढ़जानेपर कमलगोपी कमलके साथ साथ पाण्डुवर्ण एवं अवनतमुखी हो दिनों दिन सूखती जा रही है ॥ ९१ ॥

णवकम्मिएण हअपामरेण दट्ठूण पाउहारीओ ।
मोत्तव्वे जोत्तअपग्गहम्मि अवहासिणी मुक्का ॥ ९२ ॥

[नवकर्मिणा परव पामरेण दृष्ट्वा भक्तहारिकाम् ।
मोक्तव्ये योक्त्रप्रग्रहेऽवहासिनी मुक्ता ॥]

भक्तहारिकाओंको (भोजन लानेवालियोंको) देखकर नवीन कर्मी निर्लज्ज किसान, जोतरस्सि मोचन करनेको उद्यत हो भ्रमवश बैलके नाथ खोल रहे हैं ॥ ९२ ॥

दट्ठूण हरिअदीहं गोसे णइजूरए हलिओ ।
असईरहस्समग्गं तुसारधवले तिलच्छेत्ते ॥ ९३ ॥

[दृष्ट्वा हरितदीर्घं प्रातर्नातिखिद्यते हलिकः ।
असतीरहस्यमार्गं तुषारधवले तिलक्षेत्रे ॥]

तुषारधवल तिलके खेतमें असतीके हरितवर्ण एवं दीर्घ रहस्यमार्गको देख प्रातःकाल किसान खेदयुक्त नहीं होते ॥ ९३ ॥

सङ्कोलिओ व्व णिज्जइ खण्डं खण्डं कओ व्व पीओ व्व ।
वासागमम्मि मग्गो घरहुत्तसुहेण पहिएण ॥ ९४ ॥

[सङ्कोचित इव नीयते खण्ड खण्ड कृत इव पीत इव ।
वर्षागमे मार्गो गृहभविष्यत्सुखेन पथिकेन ॥]

वर्षागमसे भावी गृहसुखकी बात स्मरणकर पथिक मानो पथको सङ्कुचित कर अथवा मानो टुकड़े टुकड़े कर, अथवा मानो चर्वण कर चल रहा है ॥ ९४ ॥

धण्णा बहिरा अन्धा ते च्चिअ जीअन्ति माणुसे लोए ।
ण सुणंति पिसुणवअणं खलाणं ऋद्धिं ण पेक्खन्ति ॥ ९५ ॥

[धन्या बधिरा अन्धास्त एव जीवन्ति मानुषे लोके ।
न शृण्वन्ति पिशुनवचनं खलानामृद्धिं न प्रेक्षन्ते ॥]

जो बहरे हैं एवं जो अन्धे हैं वे ही धन्य हो जीवित हैं, कारण, वे ही खल मनुष्यों की सुनते नहीं एवं उनकी समृद्धि भी नहीं देखते ॥ ९५ ॥

एण्हि वारेद जणो तइआ मूहलुओ कहिं व्व गओ।
जाहे विसं व्व जाअं सव्वङ्गपहोलिरं पेम्म ॥ ९६॥

[इदानीं वारयति जनस्तदा मूलक-कुत्रापि वा गतः ।
यदा विषमिव जातं सर्वाङ्गघूर्णितं प्रेम ॥]

जब प्रेम विषकी भाँति सभी अङ्गोंमें व्याप्त हो गया था, तब सभी मूक हो गए थे—अब सभी मना कर रहे हैं ॥ ९६ ॥

कहँ तंपि तुइ ण णाअं जह सा आसन्दिआणँ बहुआणं।
काऊण उच्चयचिअं तुह दंसणलेहला पडिआ ॥ ९७ ॥

[कथं तदपि त्वया न ज्ञातं यथा सा आसंदिकानां बहुकानाम्।
कृत्वा उच्चयचितां तव दर्शनलालसा पतिता ॥]

तुम क्या यह भी नहीं जानते कि तुम्हारे दर्शनलालसासे अभिभूत हो वह (नायिका) अनेक आसन्दिका (बेंतके आसन या छोटी खाट) द्वारा बनायी हुई ऊँची सिढ़ी से गिर पड़ी है ॥ ९७ ॥

चोराणँ कामुआणँ अ पामरपहिआणँ कुक्कुडो रअइ।
रे रमह वहह वाहयह एत्थ तणुआअए रअणी ॥ ९८ ॥

[चौरान्कामुकांश्च पामरपथिकांश्च कुक्कुटो रवति ।
रे रमत वहत वाहयत अत्र तन्वी भवति रजनी ॥]

'अब रात थोड़ी-सी ही बची है' यह सूचितकर मुर्गा चोरों, कामुकों एवं पथिकों से क्रमानुसार 'लेते रहो' 'रमणमें मस्त होओ' एवं (गाड़ी) 'चलाते रहो' कहे दे रहा है ॥ ९८ ॥

अण्णोण्णकडक्खन्तरपेसिअमेलीणदिट्ठिपसराणं।
दो च्चिअ मण्णे कअमण्डणाइँ समअं पहसिआइं ॥ ९९ ॥

[अन्योन्यकटाक्षान्तरप्रेषितमिलितदृष्टिप्रसरौ।
द्वावपि मन्ये कृतकलहौ समकं प्रहसितौ ॥]

एक दूसरेके प्रति एक दूसरेके कटाक्षसे प्रेषित दृष्टियोंके मिल जानेसे ऐसा प्रतीत होता है कि कलह करनेवाले दोनों एक साथ ही हँस पड़े थे ॥९९॥

संझागहिअजलञ्जलिपडिमासंकन्तगोरिमुहकमलं।
अलिअं चिअ फुरिओट्ठं विअलिअमन्तं हरं णमह ॥ १०० ॥

[संध्यागृहीतजलाञ्जलिप्रतिमासंक्रान्तगौरीमुखकमलम् ।
अलीकमेव स्फुरितोष्ठं विगलितमंत्रं हरं नमत ॥]

संध्याकालीन जलाञ्जलिमें प्रतिबिम्बित गौरीका मुखकमल देखकर, मंत्रोच्चारणलिप्त होनेपर भी मिथ्याभावसे ओठोंको चलानेवाले (हिलानेवाले) हरको नमस्कार करें ॥ १०० ॥

इअ सिरि हालविरइए पाउअकव्वम्मि सत्तसए।
सत्तमसअं समत्तं गाहाणँ सहावरमणिज्जं ॥ १०१ ॥

[इति श्रीहालविरचिते प्राकृतकाव्ये सप्तशते ।
सप्तमशतं समाप्तं गाथा स्वभावरमणीयम् ॥]

इसी स्थानपर श्रीहाल (नरपाल) विरचित सप्तशती नामक प्राकृत-स्वभावरमणीय सप्तशतक समाप्त हुआ ॥ १०१ ॥

समाप्तोऽयं ग्रन्थः

—०—

गा	क्र. पीतांबर	भुवनपाल
१	५६ गनन्न	गृहन्धिन
,,	५७ मनरन्द	धरमवशेन
,,	५८ अमदृश	असढ
,,	५९ मुग्धाधिप	दुणाधिप
,,	६० मुग्धाधिप	विग्रहराज
,,	६१ मुग्धाधिप	विचित्र
,,	६२ ब्रमराज	ईश्वरराज
,,	६३ वाल्नि	पाल्कि
,,	६४ प्रवरमन	सयरसेन
,,	६५ मुगराज	आल्गराज
,,	६६ धीर	हृहन्नदिर
,,	६७ नीर	योकिहर
,,	६८ वाल्नाधिपर	चित्तराज
,,	६९ अनुराग	कृवल्न
,,	७० अनुराग	चन्द्रपुट्टिरा
,,	७१ ०	मुद्रसीम
,,	७२ ०	अढस
,,	७३ वमल्न	धीमहम्म्यण
,,	७४ पौत्निनय	पाल्नितक
,,	७५ ०	वामुन्द्र
,,	७६ भीमविक्रम	भीमविक्रम
,,	७७ विनयादित्य	विरयादित्य
,,	७८ मुणाधर	मुणाफल
,,	७९ काल्हि	काढिलक
,,	८० मकरन्द	मधुकर
,,	८१ स्वामिक	मधुकर
,,	८२ स्वामिक	स्वामिन्
,,	८३ कुलशील	कुलपुराशाल
,,	८४ इशान	निघट्ट
,,	८५ आदिवराह	आदिवराह
,,	८६ प्रद्दना	पृथिवी
,,	८७ रेवा	रेवती
,,	८८ ग्रामकूट	ग्रामकूट्टिरा
,,	८९ पोन	पुट्टिम
,,	९० रेवा	०
,,	९१ गनदेव	०
,,	९२ मानस	मानग
१	९३ वज्र	वट्टर
,,	९४ मारकुत्र	फरकुत
,,	९५ वप्रराज	वाक्पतिराज
,,	९६ शिवरमादम	शिवरमादम
,,	९७ वप्रराज	०
,,	९८ मकरन्द	वज्रराज
,,	९९ श्रीशक्ति	धर्मण
,,	१०० श्राशक्ति	मरनाथ
२	१ मान	मान
,,	२ मान	ग्रामणीक
,,	३ मान	महादय
,,	४ मान	श्रीधमिल
,,	५ महादेव	दामोदर
,,	६ दामोदर	०
,,	७ अलीक	महादेव
,,	८ अमर	समर
,,	९ वाल्मिह	काल्यसिंह
,,	१० मृगार	रमिक
,,	११ मृगार	नारामहर
,,	१२ निरिविभ्रम	नारायण
,,	१३ मुद	मृगेंद्र
,,	१४ मुर	पुरप
,,	१५ कमल	कमलाकर
,,	१६ हाल्कि	कलिन
,,	१७ शालिवाहन	कालिल
,,	१८ शालिवाहन	कृष्णराज
,,	१९ शालिवाहन	स्वरदाम
,,	२० शालिवाहन	०
,,	२१ गभराज	०
,,	२२ वर्णपुत्र	कर्णपूर
,,	२३ अनिराग	अनुराग
,,	२४ राम	राम
,,	२५ राम	प्रवरसेन
,,	२६ उनय	०
,,	२७ शालिवाहन	०
,,	२८ शालिक	ग्रामकुट्टिरा
,,	२९ शालिक	स्वामिन्

गा	क्र	पीतांबर	भुवनपाल	गा	क्र.	पीतांबर	भुवनपाल
२	३०	शालिवाहन	सरभिवृक्ष	२	६७	०	आढ्यराज
„	३१	सोमराज	बोधराज	„	६८	०	महिषासुर
„	३२	०	०	„	६९	०	पुण्डरीक
„	३३	ब्रह्मगनि	०	„	७०	०	०
„	३४	विक्रमराज	०	„	७१	०	नरवाहन
„	३५	कीर्तिराज	मौर्तिरमिक	„	७२	०	सवस्वामिन्
„	३६	कुदपुत्र	बटुष्क	„	७३		०
„	३७	शक्तिहरन	माधव	„	७४	०	०
„	३८	०	देवराज	„	७५	०	व्याघ्रस्वामिन्
„	३९	अनुराग	अनुराग	„	७६	०	कान्मलक्ष्मी
„	४०	०	हाल	„	७७	०	नागधर्म
„	४१	वैरशक्ति	रणशक्ति	„	७८	०	०
„	४२	०	मधुधर्मन्	„	७९	०	हाल
„	४३	०	०	„	८०	०	अविरत
„	४४	बलमीधिप	मालवाधिप	„	८१	०	माधवशक्ति
„	४५	बलमीपिन	मालवाधिप	„	८२	०	मागभट्ट
„	४६	०	विलमशक्ति	„	८३	०	अचल
„	४७	०	हाल	„	८४	०	हाल
„	४८	०	विरहानल	„	८५	०	साहस
„	४९	०	अवटक	„	८६	०	निरोप
„	५०	०	केशवराज	„	८७	०	शाल
„	५१	चक्रव	निष्कलङ्क	„	८८	०	०
„	५२	०	मानव	„	८९	०	मलगदेव
„	५३	०	मातुल	„	९०	०	धर्मिण
„	५४	०	सवज्ञ	„	९१	०	न्हाल
„	५५	०	मवलकलश	„	९२	०	मदोदर
„	५६	०	हाल	„	९३	०	शिवरविन्द
„	५७	०	प्रवरराज	„	९४	०	कालिह
„	५८	०	०	„	९५	०	गालिल
„	५९	०	हरिकेशव	„	९६	०	वासराज
„	६०	०	गुणाढ्य	„	९७	०	मान
„	६१	०	भातृक	„	९८	०	कराभुक
„	६२	०	स्वधर्मग	„	९९	०	हरिवृद्ध
„	६३	०	, रेहा	„	१००	०	मणिनाग
„	६४	०	हाल	३	१	०	राम्रदेव
„	६५	०	नाडिलक	„	२	०	प्रवरसेन
„	६६	०	स्वामिन्	„	३	०	कुन्दहस्तिन्

गा.	क्र.	पीतांबर	भुवनपाल
३	४	०	बंधुदत्त
”	५	०	हाल
”	६	०	०
”	७	०	नागहस्तिन्
”	८	०	प्रवरसेन
”	९	०	मानुशक्ति
”	१०	०	माधवराज
”	११	०	अनंग
”	१२	०	अद्मरि
”	१३	०	त्रिविक्रम
”	१४	०	०
”	१५	०	हाल
”	१६	०	सर्वसेन
”	१७	०	पालित्तक
”	१८	०	आढ्यराज
”	१९	०	देवराज
”	२०	०	अरिकेसरिन्
”	२१	०	ब्रह्मचारिन्
”	२२	०	अनवरत
”	२३	०	०
”	२४	०	०
”	२५	०	मकरन्द
”	२६	०	विक्रम
”	२७	०	हाल
”	२८	०	आ म्रलक्ष्मी
”	२९	०	वल्लभ
”	३०	०	असमसाह
”	३१	०	०
”	३२	०	निरुपम
”	३३	०	सर्वसेन
”	३४	०	आढ्यराज
”	३५	०	हाल
”	३६	०	वेज्जर
”	३७	०	मलसेन
”	३८	०	०
”	३९	०	अनुराग
”	४०	०	०

गा	क्र.	पीतांबर	भुवनपाल
३	४१	०	मन्मथ
”	४२	०	वल्लभट्ट
”	४३	०	मुद्गर
”	४४	०	हलक
”	४५	०	रोट्टदेव
”	४६	०	०
”	४७	०	हाउक
”	४८	०	सुचरित
”	४९	०	सुरक
”	५०	०	मम्मन
”	५१	०	हाल
”	५२	०	रिंद्र
”	५३	०	०
”	५४	०	पालित्तक
”	५५	०	गोविंदस्वामिन्
”	५६	०	पालित्तक
”	५७	०	पालित्तक
”	५८	०	कविराज
”	५९	०	हाल
”	६०	०	ऊर्ध्वदत्त
”	६१	०	दुर्विदग्ध
”	६२	०	पालित्तक
”	६३	०	आम्रलक्ष्मी
”	६४	०	सुरंक
”	६५	०	हाल
”	६६	०	पराक्रम
”	६७	०	मलयशक्ति
”	६८	०	हाल
”	६९	०	मेघनाल
”	७०	०	राघव
”	७१	०	पर्वनकुमार
”	७२	०	०
”	७३	०	हाल
”	७४	०	०
”	७५	०	ईशान
”	७६	०	समरस
”	७७	०	निरवग्रह

गा	क्र.	पीतांबर
३	७८	०
,,	७९	०
,,	८०	०
,,	८१	०
,,	८२	०
,,	८३	०
,,	८४	०
,,	८५	०
,,	८६	०
,,	८७	०
,,	८८	०
,,	८९	०
,,	९०	०
,,	९१	०
,,	९२	०
,,	९३	०
,,	९४	०
,,	९५	०
,,	९६	०
,,	९७	०
,,	९८	०
,,	९९	०
,,	१००	०
४	१	०
,,	२	०
,,	३	०
,,	४	०
,,	५	०
,,	६	०
,,	७	०
,,	८	०
,,	९	०
,,	१०	०
,,	११	०
,,	१२	०
,,	१३	०
,,	१४	०

भुवनपाल	गा.	क्र.	पीतांबर
हाल	४	१५	०
जीवदेव	,,	१६	०
विन्ध्यराज	,,	१७	०
विद्युद्दोल	,,	१८	०
०	,,	१९	०
अलंकार	,,	२०	०
०	,,	२१	०
अभिनवमृगेंद्र	,,	२२	०
०	,,	२३	०
	,,	२४	०
रत्नाकर	,,	२५	०
हरिसिंग	,,	२६	०
लक्ष्मण	,,	२७	०
कृष्णचित्त	,,	२८	०
कृष्णराज	,,	२९	०
राज्यधर्मन्	,,	३०	०
पाल्हिल	,,	३१	०
मधुसूदन	,,	३२	०
खल	,,	३३	०
विषद	,,	३४	०
समविषमाक	,,	३५	०
सर्वस्वामिन्	,,	३६	०
कीर्तिवर्मन्	,,	३७	०
आउन्न	,,	३८	०
शिलाहिन्	,,	३९	०
कल्मविद	,,	४०	०
माधव	,,	४१	०
शशिप्रभा	,,	४२	०
भामकुट्टिका	,,	४३	०
सुग्रीव	,,	४४	०
०	,,	४५	०
भूषण	,,	४६	०
०	,,	४७	०
सुदर्शन	,,	४८	०
अनुराग	,,	४९	०
हाल	,,	५०	०
पंडित	,,	५१	०
चरनिंद	,,	५२	०

भुवनपाल
नागहस्तिन्
त्रिलोचन
यज्ञस्वामिन्
श्रीमाधव
अवन्तिवर्मन्
प्रवरराज
०
हस
हस
चुल्लोडक
चुल्लोडक
हाल
महासेन
धनंजय
कृष्णचरित्र
प्रसन्न
महाराज
वासुदेव
विरहानल
भाउक
कैवर्त
भूतदत्त
महादेव
विश्वसेन
हाल
प्रवरराज
जीवदेव
प्राणराज
पाहिल
चुल्लोडक
कैलास
मदर
भागियराज
शेपर
नागहस्ति
०
चन्द्र
मदली

शा.	क्र.	पीतांबर	भुवनपाल
४	५३	०	मिधराज
”	५४	०	नकुल
”	५५	०	नरेन
”	५६	०	अशोक
”	५७	०	०
”	५८	०	गुणनन्दिन्
”	५९	०	अयकुमार
”	६०	०	०
”	६१	०	रौलदेव
”	६२	०	मम्मुलक
”	६३	०	वासुदेव
”	६४	०	विशाल
”	६५	०	विक्रमादित्य
”	६६	०	०
”	६७	०	राहव
”	६८	०	०
”	६९	०	०
”	७०	०	वम्मराज
”	७१	०	हाल
”	७२	०	हाल
”	७३	०	नागहस्तिन्
”	७४	०	दुग्गहव
”	७५	०	अनुराग
”	७६	०	मम्मराज
”	७७	०	विशेषरसिक
”	७८	०	बल्याश्रसिंह
”	७९	०	सवरसार
”	८०	प्रतान.	मृणाल
”	८१	केशव.	केशव
”	८२	नीलमानु.	शिल्पिय
”	८३	मत्तगजेंद्र.	मत्तगजेंद्र
”	८४	कुविंद.	कुविंद
”	८५	अल्ल	०
”	८६	दुर्द्धर.	दुर्द्धर
”	८७	दुर्द्धर.	०
”	८८	सुरभिवत्स.	०
”	८९	सुरभिवत्स.	विरहानल

शा.	क्र.	पीतांबर	भुवनपाल
४	९०	शालिवाहन.	ताराभट्ट
”	९१	०	हाल
”	९२	नन्दिपुत्र.	०
”	९३	पालित.	पालित्तक
”	९४	पालित.	वयस्य
”	९५	मीनस्वामिन्.	०
”	९६	वल्लभ.	श्रीदत्त
”	९७	मलयशेखर.	मलयशेखर
”	९८	०	०
”	९९	मगलकलश	मगलयश
”	१००	महोदधि	महोदधि
५	१	शालवाहन.	०
”	२	विग्रहराज	०
”	३	०	०
”	४	कद्दिल	०
”	५	ब्रह्मचारिन्.	०
”	६	०	०
”	७	०	०
”	८	शालवाहन.	०
”	९	शालवाहन.	०
”	१०	०	पृथ्वीनदन
”	११	०	०
”	१२	श्रीशक्ति	नील
”	१३	शकर.	श्रीवत्स
”	१४	शालवाहन.	स्वभाव
”	१५	ब्रह्मदत्त	ब्रह्मदत्त
”	१६	रोलदेव	रोलदेव
”	१७	पालित.	देवदेव
”	१८	देवदेव.	०
”	१९	तुङ्गक.	भुजग
”	२०	शालवाहन.	०
”	२१	राजरसिक.	प्रवरराज
”	२२	दशरथ.	मुग्धहरिण
”	२३	सत्य.	पवल
”	२४	वकणतुग.	वाचनतुग
”	२५	पालित	स्फुटिक
”	२६	मृगांकलक्ष्मी.	०
”	२७	लक्ष्मण.	स्फुटिक

गा.	क्र. पीतांबर	भुवनपाल
५	२८ पोटिस.	विषग्रभि
„	२९ मश्रद	०
„	३०	रामदेव
„	३१ शाल्वाहन.	०
„	३२ मान	पाल्लित्तक
„	३३ पालिन	कुमारदेव
„	३४ पाल्पित.	०
„	३५ ०	०
„	३६ शालवाहन.	०
„	३७ सहिल.	०
„	३८ प्रद्योत	०
„	३९ अट्टराज.	हाल
„	४० माधव	मार्गशक्ति
„	४१ सरसह	परमहण
„	४२ मुग्ध	वर्वधर्मन्
„	४३ मनेंद्र.	कण
„	४४ गजेन्द्र.	दौसीर
„	४५ जोअदेव.	पेठा
„	४६ कैहोराय.	कलकत
„	४७ शालपाहन.	देव
„	४८ शालवाहन.	०
„	४९ कुमारिल.	विन्ध्यराज
„	५० कुमारिल.	विन्ध्यराज
„	५१ चारुदत्त.	विष्णुना
„	५२ विष्णुराज.	कुंदरत्त
„	५३ वल्लभराय.	कर्णराज
„	५४ दुर्गराज.	दुर्गराज
„	५५ शाल्वाहन.	वसन
„	५६ वर्सर.	वसन
„	५७ ०	वासुदेव
„	५८ चुलौन.	चुलोदक
„	५९ चुलोन,	धवल
„	६० चुलोन.	वल्लभ
„	६१ शाल्वाहन.	रोहा
„	६२ रेखा.	रोहा
„	६३ रेखा.	संवरराज
„	६४ पादवधर्मनिन्.	हाल

गा.	क्र. पीतांबर	भुवनपाल
५	६५ शालवाहन.	हाल
„	६६ पोटिस.	पोट्टिस
„	६७ पृथ्वीनाथ	पृच्छिन
„	६८ पृथ्वीनाथ.	पृच्छिन
„	६९ ०	मतुल
„	७० चुलैन.	चुलोदव
„	७१ चुलेन.	हाल
„	७२ मुकुन्द.	इन्द्र
„	७३ अमनर्क.	अनङ्गदेव
„	७४ गुणाढ्य	गुणनुग्धा
„	७५ शाल्वाहन	आन्ध्रलक्ष्मी
„	७६ आन्धरलक्ष्मी.	आन्ध्रलक्ष्मी
„	७७ कहिल.	सीहाक
„	७८ वराह.	वराह
„	७९ मेनेंद्र	कुमिमोगिन्
„	८० निग्मह.	निग्रह
„	८१ प्रवरसेन.	परमेश्वर
„	८२ दुर्लभराज.	दुर्लभराज
„	८३ निग्मह.	०
„	८४ हरिराज.	हरिराज
„	८५ विग्रथ.	धनभट्ट
„	८६ अजय.	सूहक
„	८७ महादेव.	विलाचार्य
„	८८ वनराज.	मनदेव
„	८९ राघव.	राघव
„	९० राघव.	०
„	९१ दूरमान.	दूरामर्ष
„	९२ विरहविलास	०
„	९३ विरथ	दुध
„	९४ दुर्लभराज.	हाल
„	९५ परमेश्वर.	०
„	९६ दुर्द्धरेन्द.	दुर्गस्वामिन्
„	९७ माधव.	विन्ध्यराज
„	९८ शाल्वाहन.	रोहदेव
„	९९ ०	०
„	१०० शाल्वाहन.	बुद्धभट्ट
६	१ विक्रमभानु.	विक्रान्तभानु

गा.	क्र. पीतांबर	भुवनपाल	गा	क	पीतांबर	भुवनपाल
६	२ सर्वसेन	शिवराज	६	३९	०	अनुभग
"	३ मर्त्सेन	सल्वण	"	४०	०	रदन
"	४ महिषासुर,	महिषासुर	"	४१	०	०
"	५ श्रामाधव	आन्ध्रलक्ष्मी	"	४२	०	आदित्यसेन
"	६ रैसा	वनर्वेमरिन्	"	४३	०	आदित्यसेन
"	७ पंशव	सभ्रम	"	४४	०	०
"	८ रोलदेव	०	"	४५	०	पालित्तक
"	९ ०	पयदास	"	४६	०	सिरिमत्ता
"	१० रमिल	पयदेव	"	४७	०	०
"	११ यश सिंह	जयसिंह	"	४८	०	०
"	१२ बहुवल	माधुवल्लि	"	४९	०	कालिंग
"	१३ कुमारिल	कुमनि	"	५०	०	०
"	१४ मन्मथ	मह्यभट्ट	"	५१	०	०
"	१५ ईश्वर	गिरिसना	"	५२	०	हाल
"	१६ ईश्वर	अभिमान	"	५३	०	वाणिपूर
"	१७ शालवाहन	हाल	"	५४	०	०
"	१८ ०	बहुवाहन	"	५५	०	सिंह
"	१९ ०	विषमाविहिच	"	६४	०	सातवाहन
"	२० ०	मरस्वना	"	६५	प्रवरसेन	प्रवर
"	२१ ०	बालदेव	"	६६	कल्ह	वल्लाचिह्न
"	२२ ०	अनुराग	"	६७	बहुगुण	बहुगुण
"	२३ ०	धन्निसिंह	"	६८	शालवाहन	प्रमरान
"	२४ ०	तारागण	"	६९	चामीरर	अर्जुन
"	२५ ०	आन्ध्रलक्ष्मा	"	७०	०	अर्जुन
"	२६ ०	०	"	७१	चारदत्त	अर्जुन
"	२७ ०	हर्ष	"	७२	चारुदत्त	सम्बाहनर
"	२८ ०	०	"	७३	देहल	भोगिद्
"	२९ ०	०	"	७४	इदराज	इदुरान
"	३० ०	शिव	"	७५	अनुराग	हाल
"	३१ ०	गगट	"	७६	समर्थ	अमर्ष
"	३२ ०	नयनकुमार	"	७७	ईश्वर	इद्रकर
"	३३ ०	बटुक	"	७८	पालित	पालित्त
"	३४ ०	०	"	७९	अनुसाहन	पालित्तक
"	३५ ०	रदराज	"	८०	शालवाहन	०
"	३६ ०	अर्जुन	"	८१	नारायण	कालिक
"	३७ ०	अनग	"	८२	खुद्दोह	आन्ध्रलक्ष्मा
"	३८ ०	अनुभग	"	८३	जीवदेव	जावदेव

गा.	क्र.	पीताम्बर	भुवनपाल
६	८४	शेज्या	योज्या
,,	८५	०	गेलदेव
,,	८६	शेलर	शतपट्ट
,,	८७	मुग्धहरिण	बप्प
,,	८८	मार	सार
,,	८९	सार	शक्र
,,	९०	सार	गुणानुराग
,,	९१	कुमार	माधवप्रिय
,,	९२	भनर	साल्ल
,,	९३	अनग	देव
,,	९४	पोग्गिम	०
,,	९५	भीमस्वामिन्	०
,,	९६	शालवाहन	०
,,	९७	०	०
,,	९८	शालवाहन	०
,,	९९	मकरन्दसेन	०
,,	१००	०	०
७	१	चुहोड	०
,,	२	चुहोड	०
,,	३	चुलोड	०
,,	४	दुलभराज	योग्न
,,	५	शालवाहन	रेहा
,,	६	शालवाहन	निम्बादिप
,,	७	मदियाशुर	नागदेव
,,	८	पोग्गिम	अरदेव
,,	९	पालित	अपराजिन
,,	१०	चन्द्रौह	चुहोल्क
,,	११	भानस्वामिन्	गणपति
,,	१२	भीमस्वामिन्	सिंह
,,	१३	मुग्धराज	रविराज
,,	१४	मेघचन्द्र	सोमदेव
,,	१५	मेघचन्द्र	सुरभिवृक्ष
,,	१६	वाक्पतिराज	०
,,	१७	वाक्पतिराज	कुञ्जरगो, कुरगा ?
,,	१८	वाक्पतिराज	कुञ्जरगा, कुरगा ?
,,	१९	शालवाहन	- ०
,,	२०	अनुराग.	दोअगुल

गा.	क्र.	पीताम्बर	भुवनपाल
७	२१	शाल्वाहन	०
,,	२२	शाल्वाहन	०
,,	२३	पालित	०
,,	२४	रोहा	०
,,	२५	माधव	मदन
,,	२६	विदग्ध	०
,,	२७	०	०
,,	२८	शाल्वाहन	०
,,	२९	शाल्वाहन	०
,,	३०	वोहा	०
,,	३१	०	०
,,	३२	०	०
,,	३३	०	०
,,	३४	०	०
,,	३५	०	०
,,	३६	०	०
,,	३७	०	०
,,	३८	०	०
,,	३९	०	०
,,	४०	०	०
,,	४१	०	०
,,	४२	०	०
,,	४३	०	०
,,	४४	०	०
,,	४५	०	०
,,	४६	०	०
,,	४७	०	आ स्वामिन्
,,	४८	०	०
,,	४९	०	०
,,	५०	०	०
,,	५१	०	०
,,	५२	०	०
,,	५३	शाल्वाहन	०
,,	५४	०	०
,,	५५	०	०
,,	५६	०	०
,,	५७	०	०
,,	५८	०	०

गा. क्र.	पीतांबर	मुद्रणपाठ	गा. क्र.	पीतांबर	मुद्रणपाठ
,, ५०	०	०	,, ७९	०	०
,, ६०	०	०	,, ८०	०	०
,, ६१	०	०	,, ८१	०	०
,, ६२	०	०	,, ८२	०	०
,, ६३	०	०	,, ८३	०	०
,, ६४	०	०	,, ८४	०	०
,, ६५	०	०	,, ८५	०	०
,, ६६	०	०	,, ८६	०	०
,, ६७	०	०	,, ८७	०	०
,, ६८	०	०	,, ८८	०	०
,, ६९	०	०	,, ८९	०	०
,, ७०	०	०	,, ९०	०	०
,, ७१	०	०	,, ९१	०	०
,, ७२	०	०	,, ९२	०	०
,, ७३	०	०	,, ९३	०	०
,, ७४	०	०	,, ९४	०	०
,, ७५	०	०	,, ९५	०	०
,, ७६	०	०	,, ९६	०	०
,, ७७	०	०	,, ९७	०	०
,, ७८	०	०	,, ९८	०	०
			,, ९९	०	०

परिशिष्ट (ग)

प्रमुख प्राकृत शब्द-सूची

राष्ट्र और राष्ट्र-भाषा के परमोपकारक ग्रंथ—

प्राकृत साहित्य का इतिहास

प्रो० जगदीशचन्द्र जैन

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रमुख विषय तो नाम से ही स्पष्ट है किन्तु उसके सन्दर्भ रूप में विश्वभर की सम्पूर्ण भाषाओं की जानकारी संक्षिप्त रूप में प्राप्त हो जाती है। तदनन्तर वेद से लेकर प्राचीनतम शिलालेख, प्राचीन नाटक, कथाग्रन्थ आदि तथा इस विषय पर यथोत-प्रकाश डालने वाले आधुनिक ग्रन्थों के अध्ययन आदि के व्यापक समीक्षण और समालोचनपूर्वक अपने विषय का यह प्रथम ग्रन्थ हिन्दी साहित्य में अवतरित हुआ है। ऐसा विश्वास है कि प्राकृत के उद्भम, स्थिति और प्रचार आदि के विषय में जो भ्रामक और सन्दिग्ध दुर्निर्णेय मत-मतान्तर प्रचलित हैं उन सबका एक साथ निर्णय हो जायगा और प्राकृत के वास्तविक एवं प्रामाणिक इतिहास से लोग परिचित हो सकेंगे।

हिन्दी साहित्य को लेखक की यह अनुपम देन है। प्रत्येक संस्कृत-साहित्य के अनुसन्धित्सु छात्र, अध्यापक एवं अनुरागी व्यक्ति को इस ग्रन्थ का अवलोकन एवं अध्ययन अवश्य करना चाहिए। मूल्य २०—००

हिन्दी-प्राकृत-व्याकरण

आचार्य मधुसूदनप्रसाद मिश्र

विश्वविद्यालयों में प्राकृत के अध्ययन की कुछ न कुछ स्वतन्त्र व्यवस्था की गई है। प्राकृत पढ़नेवाले छात्रोंको या तो हेमचन्द्र, वररुचि आदि के संस्कृत सूत्रों को रटना आवश्यक होता था अथवा जर्मन विद्वान पिशल आदि के अंग्रेजी अनुवादों से किसी प्रकार काम चलाना पड़ता था। अभी तक हिन्दी में प्राकृत के सभी अंगों पर प्रकाश डालने वाला कोई पूर्ण व्याकरण नहीं था। इसी कमी की पूर्ति के लिए विद्वान् लेखक ने इस व्याकरण का प्रणयन राष्ट्रभाषा हिन्दी में किया है। इसमें महाराष्ट्री, मागधी, शौरसेनी, पैशाची, अपभ्रंश आदि प्राकृत के जितने अङ्ग हैं, उन सब का व्याकरण हेमचन्द्र आदि की सहायता से बड़े सरल एवं सुबोध रूप में प्रतिपादित हुआ है। प्रत्येक नियम विषय को अच्छी तरह समझाते हैं। नियमों के साथ स्थान-स्थान पर उनके सोदाहरण अपवाद स्थल भी बतलाये गये हैं। प्रत्येक नियम के साथ उदाहरणस्वरूप आये हुए प्राकृत शब्द के संस्कृत रूप भी सामने दे दिये गये हैं। पादटिप्पणी द्वारा उलझे हुए विषय को समझाने की पूरी चेष्टा कर साथ ही तुलनात्मक अध्ययन की सामग्री भी प्रस्तुत की गई है और अन्त में अकारादि क्रम से ग्रन्थ में आये हुए उदाहरणों की सूची भी दी गई है। इस ग्रन्थ की आधुनिक विशेषताओं को देखकर विहार राष्ट्र-भाषा परिषद् ने इसकी पाण्डुलिपि पर ही ४००) रुपयों का अनुदान प्रदान किया है।

मूल्य ५—००

संस्कृत साहित्य का इतिहास

(बृहत् संस्करण)

श्री वाचस्पति गैरोला

इस ग्रन्थ को लिखते समय यह ध्यान रखा गया है कि पाठक परम्परा और पूर्वाग्रह के मोह में न पड़कर प्रत्येक विवादग्रस्त प्रश्न का समाधान स्वयं कर सकें। पाठक पर अपने विचार लादने की अपेक्षा उपयुक्त यह समझा गया है कि विभिन्न मतवादों की समीक्षा करके वह स्वयं ही विषय के सही ध्येय को ग्रहण कर सके। भारतीयता या विदेशीपन का पक्षपात त्याग कर किसी भी विद्वान् के स्वस्थ और सही विचारों को उधार लेने में संकोच नहीं किया गया है। पुस्तक की विषय सामग्री और उसकी रूप रेखा का गठन भी ऐसे ढंग से किया गया है, जिससे संस्कृत भाषा की आधारभूत भावभूमि का परिचय प्राप्त होने के साथ साथ सम सामयिक परिस्थितियों का भी अध्ययन हो सके। आर्यों के आदि देश एवं आर्य भाषाओं के उद्भव से लेकर उन्नीसवीं सदी तक की सहस्राब्दियों में संस्कृत साहित्य की जिन विभिन्न विचार-वीथियों का निर्माण हुआ और भारत के प्राचीन राजवंशों के प्रश्रय से संस्कृत भाषा को जो गति मिली, उसका भी समावेश पुस्तक में देखने को मिलेगा। मूल्य २०-००

संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास

संस्कृत साहित्य के इतिहास का यह संक्षिप्त संस्करण इस उद्देश्य से लिखा गया है कि विभिन्न विश्वविद्यालयों की उच्च कक्षाओं के पाठ्यक्रम में निर्धारित इतिहासविषयक ज्ञान के संवर्धनार्थ विद्यार्थियों का इससे लाभ हो सके। पाठ्यक्रम की दृष्टि से संस्कृत साहित्य के इतिहास पर राष्ट्रभाषा हिन्दी में जो अनेक अन्य पुस्तकें लिखी गई हैं वे या तो सर्वांगीण नहीं हैं अथवा उनमें छात्रों के उपयोगी इतिहास के वैज्ञानिक अध्ययन की क्रमबद्ध रूपरेखा का अभाव है।

यह इतिहास पाठ्यक्रम की दृष्टि से तो लिखा ही गया है, किन्तु संस्कृत के बृहद् वाङ्मय का आमूल ऐतिहासिक अध्ययन प्रस्तुत करने का भी इसमें उद्योग किया गया है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि संस्कृत के छात्रों को वैज्ञानिक दृष्टि से संस्कृत साहित्य के इतिहास का अध्ययन कराया जाय, जिससे कि उनकी मेधाशक्ति का स्वतन्त्र रूप से विकास हो सके और प्रस्तुत विषय पर उनके भाव विचारों को नई दिशा में अग्रसर होने का अवकाश मिल सके। ८-००